॥ श्रीहरिः ॥

545

जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग

गीताप्रेस गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

प्रथम संस्करणका नम्र निवेदन

श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज गीताके मर्मज्ञ व्याख्याता हैं, साथ ही गीताके उपदेशोंको अपने जीवनमें उतारकर लोगोंके सामने सहज ही गीताका मूर्तिमान् आदर्श उपस्थित करते रहते हैं। इनके प्रवचन सभी स्तरके लोगोंमें होते हैं और ये बोलते भी हैं—प्रसंगानुसार विविध विषयोंपर। पर ये समझाते हैं बड़ी ही सहज सरल साधुभाषामें केवल यह एक ही बात कि—'मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है और उसके साधनरूपमें प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने विहित कर्तव्य कर्मका भगवत्प्रीत्यर्थ लोकहितकी उदार भावनासे सम्पादन करके इस उद्देश्यको प्राप्त कर सकता है।' कर्म सबके एक-से नहीं हो सकते, लक्ष्य सबका एक होना चाहिये। अतः भगवत्प्राप्तिके लक्ष्यसे किये जानेवाले प्रत्येक विहित कर्मको ही 'कर्मयोग' कह सकते हैं, प्रत्येक कर्मको ही 'यज्ञ' कह सकते हैं और प्रत्येक कर्मको ही भगवान्की 'पूजा' कह सकते हैं। सोना-जागना, खाना-पीना, देना-लेना, व्यवहार-बर्ताव, अग्निहोत्र, सेवा, दान, तप, योग, स्वाध्याय आदि सभी कर्म इसमें आ सकते हैं। यही भजन भी है। मनसे भगवान्का स्मरण होता रहे और तन-वचनसे विविध विचित्र यथायोग्य कर्म।

इस 'जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग' नामक पुस्तकके 'सभी कर्तव्य कर्मोंका नाम यज्ञ है' शीर्षक पहले लेखमें इसी तत्त्वका बड़ी सरल भाषामें वर्णन किया गया है। ध्यान देकर पढ़नेसे गीतोक्त निष्काम कर्मका मर्म, यज्ञका रहस्य तथा भगवत्पूजाका विधान सहज ही समझमें आ सकता है और तदनुसार आचरण करनेपर वह भगवत्प्राप्तिका अमोघ साधन बनकर भगवत्प्राप्तिके पवित्र पथमें तो आगे बढ़ायेगा ही।

इसमें दूसरा लेख 'कर्मचारियोंके तथा उद्योग-संचालकोंके कर्तव्य'

शीर्षक है। यह समयोपयोगी बहुत सुन्दर लेख है। इसमें कर्मचारियों एवं संचालकोंके लिये जो कर्तव्य बतलाये गये हैं, उनपर यदि दोनों ओरसे ध्यान देकर तदनुसार आचरण किया जाय तो केवल सारे झगड़े-बखेड़े ही नहीं मिट जायँ, परस्पर प्रेम तथा सौहार्दकी विशेष वृद्धि हो, उद्योग-धंधे विशेष लाभदायक हो जायँ और कर्मचारी तथा मालिक—दोनोंको ही भौतिक लाभके साथ-साथ पारमार्थिक लाभकी भी प्राप्ति हो।

तदनन्तर 'विषयासक्ति और भगवत्प्रीतिमें भेद', 'मनकी हलचलके नाशके सरल उपाय', 'दैवी सम्पदा एवं आसुरी सम्पदा'—ये तीन बड़े ही उपयोगी छोटे लेख और हैं। मेरा यह नम्र निवेदन है कि इस पुस्तकके अत्यन्त उपयोगी तथा परम पवित्र भावोंपर ध्यान देकर पाठकगण तदनुसार आचरण करें।

अक्षय तृतीया
सं० २०२७

निवेदक—
हनुमानप्रसाद पोद्दार

चतुर्थ संस्करणका नम्र निवेदन

कई वर्षोंसे यह पुस्तक अनुपलब्ध थी। अब इसे पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। इस संस्करणमें 'भगवत्प्राप्तिके लिये भविष्यकी अपेक्षा नहीं' नामक एक नया लेख भी अन्तमें दिया गया है। आशा है, पाठक इससे लाभ उठायेंगे।

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

॥ श्रीहरिः ॥

जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग

सभी कर्तव्य कर्मोंका नाम यज्ञ है

गीताजीके श्लोकोंसे तो यही बात सिद्ध होती है कि सब कर्मोंका नाम यज्ञ है। कैसे सिद्ध होती है, इसपर विचार किया जाता है। यज्ञोंका विशेष वर्णन आता है गीताके चौथे अध्यायमें २४वें श्लोकसे ३२वें श्लोकतक। इनका प्रकरण आरम्भ होता है चौथे अध्यायके २३वें श्लोकसे। उसमें भगवान् कहते हैं—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

इसमें बतलाया गया है कि यज्ञके लिये आचरित सम्पूर्ण कर्म सर्वथा विलीन हो जाते हैं अर्थात् वे शुभाशुभ फलका उत्पादन नहीं करते, फलदायक—बन्धनकारक नहीं होते, जन्म देनेवाले नहीं होते। कर्मोंकी प्रविलीनताका यही अर्थ है।

इसी बातको दूसरे ढंगसे भगवान् कहते हैं तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

यज्ञार्थ कर्मसे भिन्न कर्ममें लगनेपर यह लोकसमुदाय कर्मोंके बन्धनमें बँधता है।

अर्थात् यज्ञके अतिरिक्त जो भी कर्म होते हैं, वे सभी बन्धनकारक होते हैं। केवल यज्ञार्थ कर्म बन्धनकारक नहीं होते। उपर्युक्त दोनों ही स्थलोंमें 'यज्ञ' शब्द आया है। चौथे अध्यायके २४वें श्लोकसे भगवान् यज्ञोंका वर्णन आरम्भ करते हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

इस प्रकरणमें चौदह यज्ञोंका उल्लेख किया गया है, जिनमें 'प्राणायाम' का नाम भी आया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(४। २९)

अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।

(४। ३०)

ऊपर '**जुह्वति**' क्रिया दी गयी है। आगे और भी क्रियाएँ बतायी गयी हैं। जैसे उसी अध्यायके २८वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

दान-पुण्य आदि जितने भी कर्म पैसोंसे या पदार्थोंसे सिद्ध होते हैं; उन्हींको 'द्रव्ययज्ञ' कहा गया है। इसी प्रकार जिसमें इन्द्रियोंका, मनका, शरीरका संयम किया जाय उस तपस्याको भी 'यज्ञ' कहा गया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—पातंजलयोगके ये आठ अंग तथा हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जो अन्य योग हैं, उन्हें भगवान्ने 'योगयज्ञ' कहा है। स्वाध्याय अर्थात् वेदोंका अध्ययन, स्मृतियोंका पाठ तथा इन सबका मनन—इन्हींको भगवान्ने 'स्वाध्याययज्ञ' नाम दिया है तथा इनके द्वारा उत्पन्न हुई समझको, इतना ही नहीं, किसी भी बातको गहराईसे समझनेको 'ज्ञानयज्ञ' कहा है। भगवान्ने 'यज्ञ' नामसे इन सबको अभिहित

किया है। वे इस यज्ञके प्रकरणका उपसंहार करते हैं चौथे अध्यायके ३२ वें श्लोकमें—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

इस श्लोकमें यज्ञोंको कर्मजन्य बताया गया है। इसके पूर्ववर्ती श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

—जो बात भगवान्ने चौथे अध्यायके २३वें श्लोकमें कही थी—

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

—उसीका उपसंहार एक प्रकारसे वे चौथे अध्यायके ३१वें श्लोकमें करते हैं—'यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।* इसी प्रकार तीसरे अध्यायके १३वें श्लोकमें देखिये—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

'यज्ञशेष भोजन करनेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।' अब देखिये—सब पापोंसे मुक्त हो जाना, सम्पूर्ण कर्मोंका लीन हो जाना और यज्ञसे ब्रह्मकी प्राप्ति—ये तीनों एक ही बात है, सबका तात्पर्य एक ही निकलता है। तीसरे अध्यायके नवें और तेरहवें तथा चौथे अध्यायके तेईसवें और इक्कीसवें—इन चारों श्लोकोंमें यज्ञका फल बताया गया है—परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति, सम्पूर्ण पापोंका नाश और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद। अतः जितने भी उपाय परमात्माकी प्राप्तिके हैं, वे सब-के-सब गीतामें 'यज्ञ' नामसे अभिहित हुए हैं—यह बात उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध

* 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'

हो गयी। बीचमें द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, प्राणायामयज्ञ आदि सभी यज्ञोंकी चर्चा आ गयी। दान, तप, होम, तीर्थसेवन, व्रत—ये सब-के-सब 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत आ गये—यह मानना ही पड़ेगा।

चौथे अध्यायके ३२ वें श्लोकमें यह कहकर कि 'वेदकी वाणीमें बहुत-से यज्ञोंका विस्तारसे वर्णन हुआ है'—भगवान्‌ने दहरादिकी उपासनाका भी 'यज्ञ' शब्दमें अन्तर्भाव कर दिया, जिनका वर्णन गीतामें नहीं है, अपितु उपनिषद्‌में आया है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

'इन सबको तू कर्मोंसे उत्पन्न जान—'**कर्मजान् विद्धि**' और इस प्रकार जाननेसे तू मुक्त हो जायगा—'**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥**'

चौथे अध्यायके १५ वें श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

यहाँ भी भगवान्‌ने कर्मपर जोर दिया है। उपर्युक्त श्लोकमें '**एवं ज्ञात्वा**' से इस तत्त्वको जाननेकी बात जो कही गयी है, वह जिस प्रसंगसे कही गयी है, वह प्रसंग चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें आता है। वह इस प्रकार है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

यहाँ भी 'कर्म' शब्द आया है। इस कर्मके तत्त्वपर ध्यान देना चाहिये। कर्ममात्रका नाम 'यज्ञ' है—यह बात अब बतलायी जाती है। चौथे अध्यायके १३वें श्लोककी अवतारणा हुई है उसी अध्यायके नवें श्लोकसे। नवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—'**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**'—मेरा जन्म-कर्म दिव्य है। वह कर्म दिव्य क्यों है ? अपने कर्मोंकी दिव्यताका प्रकरण भगवान्‌ने चलाया है

१३वें श्लोकसे और जन्मकी दिव्यता भगवान्‌ने कही है चौथे अध्यायके छठे श्लोकसे। वहाँ उन्होंने जन्मकी दिव्यताके साथ अपने जन्मका हेतु बताया और कहा कि 'मेरा जन्म-कर्म दिव्य है, इस बातको जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है।' चौथे अध्यायके १३वें श्लोकमें श्रीभगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

'चातुर्वर्ण्यकी जब मैंने रचना की, तब यह मेरा कर्म हुआ और मैं उसका कर्ता हुआ तथापि तू मुझ कर्ताको भी अकर्ता जान।' इसके बाद वे कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

'मुझे कर्म बाँधते नहीं और मेरी कर्मफलमें कोई स्पृहा नहीं है—इस प्रकार जो जान लेता है, वह कर्मोंसे नहीं बँधता।' इस प्रकार भगवान्‌ने अपना कर्म बताया और यह भी बताया कि जो उनके कर्मोंका रहस्य जान लेता है, वह बँधता नहीं है। वह क्यों नहीं बँधता? इसके दो हेतु बताये गये हैं—'**तस्य कर्तारमपि मां विद्धि अकर्तारम्**'—'उन कर्मोंके कर्ता होते हुए भी मुझको अकर्ता समझ।' इस कथनसे तात्पर्य यह निकला कि 'भगवान् कर्तृत्वाभिमानसे रहित हैं।' साथ ही '**न मे कर्मफले स्पृहा**' कहकर वे बताते हैं कि मुझमें कर्मफलकी इच्छा नहीं होती।' जिस कर्ममें कर्तृत्वका अभिमान न हो और फलकी इच्छा न हो, वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता, यह सिद्धान्त है। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**इति मां योऽभिजानाति**'—'जो कोई भी मुझे ऐसा जान लेता है', '**कर्मभिर्न स बध्यते**'—'कर्मसे वह नहीं

बँधता है।' मेरी तरह कर्तृत्व-अभिमान और फलासक्तिसे रहित होकर कोई भी कर्म करेगा, वह भी नहीं बँधेगा। इस प्रकार भगवान्‌ने अपने कर्मोंकी दिव्यता बतायी। जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही कर्म मुक्तिदायक हो जायँ, यह दिव्यता है कर्मोंकी। इसीलिये कर्मयोगके प्रसंगमें भगवान्‌ने दूसरे अध्यायमें कहा है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**—'कर्मोंमें योग ही 'कुशलता' है।' 'योग' किसका नाम है? **'समत्वं योग उच्यते'**—'समताको ही योग कहा जाता है।' यह समता कैसे प्राप्त होती है? **'सङ्गं त्यक्त्वा'** और **'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'**—मनुष्य आसक्तिका त्याग करे और सिद्धि-असिद्धिमें सम हो जाय तब समता आती है। समताका नाम ही योग है और योग ही कर्ममें कुशलता है। जो कर्म बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही कर्मोंकी कुशलता है। इसीलिये कहा गया है—

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

कुछ लोग कहते हैं कि जबतक मुमुक्षा उत्पन्न न हो, तभीतक कर्म करना है और मुमुक्षा उत्पन्न हो जानेपर मनुष्यको चाहिये कि वह संन्यास ले ले और कर्मोंका त्याग कर दे। यह अद्वैत-वेदान्तकी प्रक्रिया है पर चौथे अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।

'मुमुक्षु पुरुषोंने ऐसा जानकर कर्म किया है।'—कर्म किया है, कर्मोंका त्याग नहीं।

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

'इसलिये तू कर्म ही कर', **'कर्मैव कुरु।'** इस प्रकार

भगवान्‌ने यहाँ कर्म करनेपर ही जोर दिया। फिर चौथे अध्यायके १६वें श्लोकमें वे कहते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है'—इस बातको लेकर बड़े-बड़े पण्डित भी मोहमें पड़ जाते हैं। अब मैं तुझे वह कर्म कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे—बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' इस प्रकार १६वें श्लोकसे उपर्युक्त प्रसंगका उपक्रम करके उपसंहार करते हैं उसी अध्यायके ३२वें श्लोकमें। १६वें श्लोकमें उन्होंने जो बात कही—'**यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्**' वही बात चौथेके ३२वेंमें उपसंहार करते हुए कही है—'**एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥**' इसी कर्मके अन्तर्गत यज्ञ हैं। जितने भी शुभ कर्म हैं, उन्हींका नाम है—'यज्ञ' और उन्हीं कर्मोंके द्वारा भगवान्‌के पूजनकी बात कही गयी है। अठारहवें अध्यायके ४६ वें श्लोकमें—'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**' पूजाका ही नाम यज्ञ है। इस प्रकार जितने भी कर्म हैं, वे सब-के-सब यज्ञ हैं। 'यज्ञ' शब्दके अन्तर्गत जितने भी कर्तव्य-कर्म हैं, वे सब आ गये। अब जरा ध्यान देकर विचार करें—'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ होना चाहिये? गीताके अनुसार यज्ञ आदि जितने भी शुभ कर्म हैं, सब-के-सब 'यज्ञ' शब्दके अन्तःपाती हैं। इसी 'यज्ञ' शब्दका चतुर्थी विभक्तिमें रूप होता है, '**यज्ञाय**'—यज्ञके लिये। '**यज्ञार्थ**' का भी वही अर्थ होता है जो '**यज्ञाय**' का है। तीसरे अध्यायके ९वें श्लोकमें आया है—'**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**' 'यज्ञार्थ कर्मको छोड़कर अन्य सभी कर्म बन्धनकारक होते हैं।' 'यज्ञार्थ कर्म' का अर्थ है—यज्ञके लिये किये जानेवाले

कर्म। चौथे अध्यायके २३वें श्लोकमें कहा है—'**यज्ञायाचरत:**', यज्ञके लिये कर्म करनेका अर्थ है—कर्मके लिये कर्म करना अर्थात् लोकसंग्रहके लिये कर्तव्यमात्र करना। फलकी इच्छा, आसक्ति, कामना, कर्तृत्वाभिमान आदि कुछ भी नहीं रखना। लोकसंग्रहकी बात भगवान् कहते हैं—तीसरे अध्यायके २०वें, २१वें श्लोकोंमें—'**लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥**' इसके बाद वे २२वें श्लोकमें कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

'मेरे लिये तीनों लोकोंमें न तो कोई कर्तव्य शेष है और न कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु ही बाकी है, जो अबतक मुझे प्राप्त न हुई हो तो भी मैं कर्ममें प्रवृत्त होता हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि केवल कर्तव्य-बुद्धिसे, लोकसंग्रहकी दृष्टिसे, लोक-शिक्षाके लिये कर्म किये जाने चाहिये। अपना कोई स्वार्थ न रहे, कोई कर्तृत्वाभिमान नहीं, ममता नहीं, आसक्ति नहीं, विषमता नहीं, किसी प्रकारकी कोई इच्छा नहीं, कोई आग्रह नहीं एवं कहीं कोई लगाव नहीं। निर्लिप्त होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्म 'यज्ञ' हो जाते हैं। कर्म किया जाय यज्ञार्थ—यज्ञके लिये ही; लोकपरम्परा सुरक्षित रखना ही उसका उद्देश्य हो, लोगोंका पतन न हो—इसी भावसे कर्म किया जाय, वह होगा 'यज्ञार्थ कर्म'। 'यज्ञ' शब्दका यह तात्पर्य निकला।

अब दूसरी दृष्टिसे देखिये कि 'यज्ञ' शब्दका क्या अर्थ होना चाहिये। गीताके चौथे अध्यायमें जो 'यज्ञ' शब्द आया है, उसी यज्ञके विषयमें अर्जुनने सत्रहवें अध्यायके प्रारम्भमें एक बात पूछी है—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

'शास्त्रविधिका त्याग करके जो यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कौन-सी है?' जितने यज्ञ होते हैं, सब-के-सब शास्त्र-विधिसे सम्पन्न होते हैं—'**कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्**।' '**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे**'—'वे यज्ञ वेदवाणीमें कहे गये हैं।' वेदवाणीमें कहे गये अर्थात् शास्त्रोंमें उनका विधान किया गया है। परंतु अर्जुनके प्रश्नमें शास्त्रविधिके त्यागपूर्वक यजनकी बात कही गयी है। इसीपर यह प्रश्न उठाया गया है कि शास्त्रविधिका उल्लंघन करके जो यजन करते हैं, उनकी निष्ठा कौन-सी होगी। शास्त्रविधिके त्यागका फल तो विपरीत होना चाहिये और यजन-पूजनका फल उत्तम होना चाहिये। दोनोंके सम्मिलित परिणामस्वरूप उनकी निष्ठा कौन-सी होगी—यही प्रश्न अर्जुनके मनमें उठा, जिसका उत्तर भगवान्‌ने दिया है सत्रहवें अध्यायके चौथे श्लोकमें। वैसे तो सत्रहवाँ अध्याय पूरा इस प्रश्नके उत्तरके रूपमें है पर यज्ञके विषयमें उत्तर दिया गया है चौथे श्लोकमें—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

इससे यह सिद्ध हो गया कि सात्त्विक, राजस, तामस—तीन तरहकी निष्ठा उनकी होती है। पूजा होती है देवताओंकी। प्रश्न यह होता है कि '**यजन्ते**' द्वारा जिनके पूजनकी बात कही गयी है, वे देवता कौन हैं और उनका यजन क्या है? इनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर उपर्युक्त श्लोकमें यह दिया गया है कि सात्त्विकोंके पूजनीय सात्त्विक देवता हैं, राजस पुरुषोंके पूजनीय यक्ष-राक्षस और तामस पुरुषोंके पूजनीय प्रेत और भूतगण हैं। इनमें जो

सात्त्विक आराधक हैं वे क्या करते हैं तथा राजस-तामस आराधक क्या करते हैं?—इसका उत्तर चौदहवें अध्यायमें विस्तारसे दिया गया है तथा उनकी गति चौदहवें अध्यायके १८वें श्लोकमें कही गयी है। विस्तारमें जानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ सातवें श्लोकसे भगवान् इसका प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। भगवान् कहते हैं—आहार तीन तरहका होता है। परंतु उसके प्रकारोंका उल्लेख करते हुए वे यह नहीं कहते कि 'उक्त आहार कौन-कौन-से हैं' प्रत्युत यह बतलाते हैं कि 'सात्त्विक, राजस एवं तामस लोगोंके प्रिय लगनेवाले आहार कौन-कौन-से हैं।' यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'उन्होंने ऐसा क्यों किया?' इसका उत्तर यह है कि 'अर्जुनने शास्त्रविधिको छोड़कर श्रद्धापूर्वक यजन करनेवालोंकी निष्ठा पूछी थी।' इसपर भगवान् सत्रहवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

अन्तःकरणके अनुसार श्रद्धा होती है, ऐसी दशामें श्रद्धासे ही उसकी निष्ठाका पता लगेगा। उसकी यजन-क्रिया और श्रद्धासे ही उसकी पहचान होगी। शास्त्रविधि तो उसने छोड़ दी, अतः उस कसौटीपर उसे नहीं कसा जायगा। ऊपर कहा गया है कि 'श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है और जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है'—इस न्यायसे श्रद्धावान् पुरुष भी तीन ही तरहके होंगे। श्रद्धा होती है अन्तःकरणके अनुरूप। इसलिये तीन ही तरहके आहार उन्हें रुचिकर होंगे। जो किसी भी प्रकारकी पूजा—उपासना नहीं करते, उनकी निष्ठाका पता लगेगा उनके आहारसे। पूजा चाहे कोई न करे, आहार तो वह करेगा ही।

उसीसे उसकी निष्ठाकी पहचान हो जायगी। इसीलिये भगवान् आहारकी बात कहते हैं—'**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**' कुछ लोग कहते हैं कि सत्रहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें तीन प्रकारके आहारका वर्णन है, परंतु वास्तवमें यह बात है नहीं। भगवान्ने आहारके साथ 'प्रिय' शब्द दिया है। 'प्रिय' शब्द इसलिये दिया गया है कि जैसा आहार मनुष्यको प्रिय होता है, वैसी ही उसकी प्रकृति होगी और जैसी उसकी प्रकृति है, श्रद्धा है, निष्ठा है वैसा ही आहार उसे प्रिय लगेगा। आहारकी प्रियतामें आहारका वर्णन तो स्वतः हो गया। सात्त्विक पुरुषोंको सात्त्विक आहार प्रिय लगता है, राजस पुरुषोंको राजस एवं तामस पुरुषोंको तामस आहार प्रिय लगता है। अन्तःकरण आहारके अनुरूप बनता है। सातवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें आहारकी बात कहकर फिर उत्तरार्धमें यज्ञ, तप तथा दानके तीन भेद किये हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आहारके साथ भगवान्ने यज्ञ, तप और दानकी बात क्यों छेड़ी? आहारकी चर्चा तो आयी थी परीक्षाके लिये। इसका उत्तर यह है कि अर्जुनने अपने मूल प्रश्नमें यजन-पूजन करनेवालोंके विषयमें पूछा था। यजनके अन्तर्गत दान और तप भी आ जाते हैं। इसीलिये आगे चलकर सत्रहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

'परमात्माके नाम हैं—ॐ, तत् और सत्। ब्राह्मणोंको, वेदोंको, यज्ञोंको जिस परमात्माने बनाया, उसी परमात्माके ये तीनों नाम हैं।' यज्ञकी क्रिया सम्पन्न करनेवाले ब्राह्मण, यज्ञकी विधि बतानेवाले वेद और यजनकी क्रियाका नाम यज्ञ।

परमात्माने इन तीनोंको रचा, इसीलिये सत्रहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

अतएव 'हरिः ॐ' इस प्रकार उच्चारण करके ही यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ करना चाहिये एवं इसी प्रकार ब्रह्मवादी पुरुष करते आये हैं। इसके बाद भगवान् कहते हैं—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

(१७। २५-२६)

भगवान्के नामोंका उल्लेख यहाँ इसलिये किया गया कि यज्ञ-दान-तपमें कोई अंग वैगुण्य रह जाय या कोई कमी रह जाय तो परमात्माके नामोच्चारणसे उसकी पूर्ति कर दी जाय; क्योंकि परमात्मासे ही यज्ञ पैदा हुए, परमात्मासे ही ब्राह्मण पैदा हुए और वेद भी प्रकट हुए परमात्मासे ही। इनमें कोई कमी रहेगी तो इन सबके मूल परमात्माका नाम लेनेसे उसकी पूर्ति हो जायगी। अठारहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें भी इन्हीं तीन शुभ कर्मोंका उल्लेख हुआ है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

कहीं-कहीं शुभ कर्मोंकी संख्या चार भी कही गयी है, जैसे आठवें अध्यायके २८वें श्लोकमें वेदाध्ययन, यज्ञ, तप और दान—चारका नाम आया है। कहीं-कहीं पाँचका भी उल्लेख

हुआ है—जैसे ग्यारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें— '**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।**' वेद, यज्ञ, दान, तपके अतिरिक्त पाँचवीं क्रिया भी आ गयी। नवें अध्यायके २७वें श्लोकमें यज्ञ, दान आदिके साथ भोजनका उल्लेख हुआ है—'**यदश्नासि**' कहकर। इस प्रकार शुभ कर्मोंके नामपर कहीं छ:का, कहीं पाँचका, कहीं चारका, कहीं तीनका और कहीं केवल एक यज्ञका ही निर्देश भगवान्‌ने किया है। एक यज्ञके उल्लेखसे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका उल्लेख हो गया। '**यत्करोषि**' के अन्तर्गत चारों वर्णोंके जीविकोपयोगी कर्म भी आ गये, जिनका वर्णन श्रीभगवान्‌ने १८वें अध्यायके ४१वें श्लोकसे प्रारम्भ करके ४२वें श्लोकमें ब्राह्मणके कर्म, ४३वेंमें क्षत्रियके एवं ४४वेंमें वैश्यके तथा शूद्रके कर्म बताये हैं। फिर ४५वें श्लोकमें उन कर्मोंसे होनेवाली सिद्धिका उल्लेख किया है—'**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**' जो सिद्धि यज्ञोंसे बतायी गयी, वही यहाँ वर्णोचित कर्मोंसे बतायी गयी है और उसकी प्राप्तिका प्रकार ४६वें श्लोकमें कहा गया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' से कर्मद्वारा पूजाकी बात आयी। तब ये कर्म यज्ञरूप ही हुए न?

माताएँ रसोई बनायें और ऐसा मानें कि मैं इस रूपमें भगवान्‌का पूजन कर रही हूँ तो रसोई बनाना भी भगवान्‌का पूजन हो जायगा। मनुजी महाराजने रसोई बनानेकी क्रियाको भी 'यज्ञ' कहा है। मनुजी महाराजने लिखा है कि स्त्रीका पतिदेवके घरमें जाना ही उसका गुरुकुल-वास है। कारण, पति ही उसका

एकमात्र गुरु है—'**पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्**।' वहाँ रसोई बनाना उसके लिये है—'**अग्निहोत्र**'। अग्निहोत्र ही यज्ञ है। इसी प्रकार विद्यार्थी अपने अध्ययनको यज्ञ मान सकता है। निष्कामभावसे तथा शुद्ध रीतिसे किये गये सांसारिक सभी कार्य 'यज्ञ' रूप होते हैं। आयुर्वेदका जाननेवाला केवल जनताके हितके लिये वैद्यका काम करे तो उसके लिये वही यज्ञ है। इस प्रकार गीताके अनुसार कर्तव्यमात्र ही यज्ञ—भगवान्‌का पूजन बन जाता है। अवश्य ही कर्ममात्र भगवान्‌का पूजन तब होगा, जब आप उसे भगवान्‌की पूजाके लिये करें। परंतु यदि भाव आपका वैसा नहीं होगा तो '**यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥**' जो जैसी श्रद्धावाला होगा उसकी निष्ठा वैसी ही होगी। आप रुपयोंके लिये व्यापार करेंगे तो आपको रुपया मिलेगा, आपका किया हुआ व्यापार यज्ञ नहीं होगा; क्योंकि आपकी वैसी श्रद्धा और वैसा भाव नहीं है। जहाँ आपका वैसा भाव होगा वहीं आपका कर्म यज्ञ बन जायगा।

अब अपने विचार करें कि यज्ञ क्या है और देवता क्या हैं? देवता तो हुए यज्ञका फल देनेवाले उसके अधिष्ठातृ-देवता। अब उनका यज्ञके द्वारा पूजन करना है, तो पूजन आहुतिके द्वारा भी होता है और कर्तव्यकर्मोंके द्वारा भी। कर्तव्यकर्मोंके द्वारा पूजन सब कोई कर सकते हैं। मनुष्य है मध्यलोक—मर्त्यलोकका निवासी। स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक—इन तीन लोकोंके समुदायका नाम है—त्रिलोकी। त्रिलोकीके मध्यमें रहनेवाला है—मनुष्य। भगवान्‌ने मनुष्यको मध्यमें निवास इसलिये दिया है कि वह देवताओंकी भी तृप्ति कर सकता है और नरक एवं अधोलोकोंमें रहनेवालोंकी भी तृप्ति कर सकता है। सबका तर्पण होता है। द्विजातिलोग देवताओंका तर्पण करते

हैं, ऋषियोंका तर्पण करते हैं, पितरोंका तर्पण करते हैं, भूतप्राणियोंका तर्पण करते हैं तथा भूत, प्रेत, पिशाच आदि योनियोंमें गये हुए बान्धवोंका तर्पण करते हैं। जिनके वंशमें कोई नहीं रहा, उनका भी तर्पण करते हैं। इस विषयमें तर्पणकी विधि देखें। जिनके कोई जल देनेवाला नहीं, उनका भी तर्पण करते हैं। साँप-बिच्छू आदि जितने अधोगतिमें गये हुए जन्तु हैं, जितने मध्यगतिको प्राप्त हैं और जितने ऊर्ध्वगतिमें गये हुए हैं, सबको यहाँतक कि ऊँचे-से-ऊँचे भगवान्‌को भी तर्पण करते हैं। समुद्रको तर्पण करते हैं। समुद्रमें जल कम है क्या, जो जलसे उसकी तृप्ति की जाय? तात्पर्य यह कि मध्यमें रहनेवाला यह मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंके जीवोंको तृप्त करता है। इस प्रकार सबको तृप्त करनेका अधिकार भगवान्‌ने मनुष्यको दिया है। वह त्रिलोकीके जीवोंको ही नहीं, भगवान्‌को भी तृप्त करता है। भगवान्‌की भी भूख-प्यास मिटानेवाला यदि कोई है तो वह मनुष्य ही है। भगवान् नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

'मुझमें मन लगा, मेरा ही भजन कर, मेरा पूजन कर और मुझे ही नमस्कार कर।' यहाँ यह प्रश्न होता है 'भगवान्‌को भी भूख लगती है क्या?' 'हाँ'। 'क्यों उनमें भी कोई कमी है?' 'हाँ'—विनोदकी-सी बात है। 'जीव जो अधोगतिमें जा रहे हैं' यही भगवान्‌में कमी है। सारा संसार मिलकर भगवान्‌का स्वरूप है। अतः जो अधोगतिमें जाते हैं, उतना अंग भगवान्‌का ही तो अधोगतिमें जाता है। यही भगवान्‌की भूख है। भगवान् कहते हैं—'तू अपना सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो तेरा कल्याण हो जाय और मेरा काम बन जाय।' इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि

भगवान्‌की तृप्ति भी मनुष्य कर सकता है। जीव-जन्तुओंकी तृप्ति तो वह करता ही है। भगवान् तो यहाँतक कहते हैं कि 'भक्त मुझे बेच दे तो मैं बिक जाता हूँ।' ***'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि'***—ऐसी दशामें बताइये कि भक्त भगवान्‌के इष्ट हैं कि नहीं? अर्जुनको भी भगवान् अठारहवें अध्यायके ६४वें श्लोकमें कहते हैं—'**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥**' 'तू मेरा इष्ट है......।' जीव भगवान्‌को इष्ट मानता है। भगवान् कहते हैं—'तू मेरा इष्ट है।' जो भगवान्‌को अपना मन सौंप देता है, उसे भगवान् अपना इष्ट मान लेते हैं, उसका आज्ञापालन करते हैं। रामावतारमें भगवान् कहते हैं—'मैं सीताका त्याग कर सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ, अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, परंतु पिताका आज्ञा-भंग करनेकी मुझमें शक्ति नहीं।' यह मनुष्य चाहे तो भगवान्‌का माँ-बाप बन जाय, भगवान्‌का दास बन जाय, भगवान्‌का भाई-बन्धु बन जाय, भगवान्‌की स्त्री बन जाय, भगवान्‌का बच्चा बन जाय, भगवान्‌का शिष्य बन जाय या गुरु बन जाय। अपने कुटुम्बसे ही तो आप राजी होते हैं। भगवान्‌का सम्पूर्ण यह मनुष्य बन सकता है। यह भगवान्‌का सब कुछ बन सकता है। भगवान् उसे वही बना लेंगे और वैसी-की-वैसी मर्यादा उसके साथ निभायेंगे। वे उसके सुपुत्र बन जायँगे। भाई भी बनेंगे तो असली। सुपुत्र-सत्पति-सन्माता सब कुछ बन जायँगे भगवान्। शिष्य बने तो श्रेष्ठ चेला बनेंगे भगवान्। वसिष्ठजीके चेला श्रीराम थे ही। विश्वामित्रजीका चरण वे चाँपते ही थे। वे जहाँ जो भी बनते हैं, स्वाँग पूरा उतारते हैं। भगवान्‌का सब कुछ मनुष्य बन सकता है, इतना बड़ा अधिकार मनुष्यको भगवान्‌ने दिया है।

अब उसके लिये कहते हैं—‘**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।**’ इसके पूर्व ८वें श्लोकमें कहा—‘**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**’ ‘नियत कर्म कर और न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है।’ ‘**अकर्मणः ते शरीरयात्रापि न प्रसिद्ध्येत्।**’ ‘कुछ नहीं करेगा तो तेरा निर्वाह भी नहीं होगा, जीवन भी नहीं चलेगा। कर्म करनेसे ही जीवन-निर्वाह होगा।’ साथ ही शास्त्रोंमें यह भी कहा है कि कर्मोंसे जन्तु बँधता है।’ ‘**कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।**’ यह ध्यान देनेकी बात है कि यहाँ ‘जन्तु’ शब्दका प्रयोग हुआ है। ‘जन्तु’ शब्दका स्वारस्य यह है कि जन्तु (जानवर) ही बन्धनमें आते हैं, मनुष्य नहीं। मनुष्य बँधता है सकाम कर्म करके, स्वार्थबुद्धिसे। ऐसे मनुष्यको जन्तु ही समझें। गीता भी कहती है—‘**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥**’ जो स्वार्थ-बुद्धिसे प्रेरित होकर मोहमें फँसे हुए हैं, वे मनुष्य थोड़े ही हैं, वे तो जन्तु हैं—भले ही उनकी आकृति मनुष्यकी-सी ही हो। ‘**यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत् तत् कामस्य चेष्टितम्।**’ जानवरकी सारी चेष्टाएँ कामयुक्त—स्वार्थप्रेरित होती हैं। कामनासे ही कर्म बन्धनकारक होता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

जो कर्म परमात्माकी प्रसन्नताके लिये, लोकसंग्रहके लिये, सब लोगोंके उद्धारके लिये, आसक्ति, स्वार्थ और कामनाको त्यागकर किया जाता है, वह बाँधता नहीं है। यही है ‘यज्ञ’।

इसके अगले श्लोकमें भगवान् कहते हैं—‘**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**’ सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माने

यज्ञोंके साथ प्रजाओंको उत्पन्न किया। यहाँ '**प्रजाः**' शब्दके अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी आ जाते हैं। '**प्रजाः**' शब्दके साथ '**सहयज्ञाः**' विशेषणको देखकर यह शंका होती है कि यज्ञमें सबका अधिकार तो है नहीं, फिर भगवान्‌ने सारे प्रजाजनोंके साथ यह विशेषण क्यों लगाया? इसका उत्तर यही है कि यहाँ उस यज्ञकी बात नहीं है, जिसमें सबका अधिकार नहीं। यहाँ 'यज्ञ' का व्यापक अर्थ—'कर्तव्यकर्म' लेना चाहिये। 'यज्ञ' का इसी अर्थमें प्रयोग समझना चाहिये। '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**' द्वारा भगवान्‌ने आगे चलकर यही बताया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी अपने-अपने कर्मोंद्वारा उनका पूजन करें। इसी कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा—इसके द्वारा तुम सबकी वृद्धि करो और यही तुम्हारी इष्ट कामनाकी पूर्ति करनेवाला हो—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

परंतु साथ ही भगवान् कहते हैं—'इष्टकामनाके साथ अपना सम्बन्ध मत जोड़ो। तुम यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करो।' जैसे गीता अध्याय २ श्लोक ४५में भगवान् अर्जुनको '**निर्योगक्षेम आत्मवान्**' बननेको कहते हैं और ९वें अध्यायके २२वेंमें कहते हैं—'**योगक्षेमं वहाम्यहम्**'—'तुम्हारे योगक्षेमका वहन मैं करूँगा, तू उसकी चिन्ता छोड़ दे।' इसी प्रकार यहाँ भी वे कहते हैं—'देवताओंका तुम पूजन करो पर देवताओंसे कुछ चाहो मत। देवता तुम्हारा काम करें पर यह तुम उनसे चाहो मत।' चाहनेसे सम्बन्ध जुड़ जाता है। चाहयुक्त कर्म हो जाता है 'तुच्छ'। उदाहरणके लिये—गीताका विवेचन किया हमने, भिक्षा दे दी

आपने, दोनोंका काम हो गया पर गीताका विवेचन किया हमने और उसके साथ यह स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लिया कि गीताकी बात सुनानेसे हमें रोटी मिल जायगी तो हमारा यह काम तुच्छ हो जायगा। किसी भी क्रियाके साथ स्वार्थका सम्बन्ध जोड़ लेनेसे वह क्रिया तुच्छ हो जाती है, निकृष्ट हो जाती है, बन्धनकारक हो जाती है। कोई पूछे—'परम श्रेय कैसे होगा?' उत्तर है—'अपने कर्तव्यका पालन करो; परंतु लोकहितके लिये। उससे अपने स्वार्थका सम्बन्ध मत जोड़ो।'

क्या बतायें सज्जनो! आप सब काम करते हैं। घरोंमें बहनें, माताएँ, भाई, बच्चे, छोटे-बड़े सब काम करते हैं; परंतु बड़ी भारी भूल होती है यह कि आसक्ति, कामना और स्वार्थके साथ हमलोग सम्बन्ध जोड़ लेते हैं; किंतु उससे लाभ कुछ नहीं होता। लौकिक लाभ भी नहीं होता; फिर अलौकिककी तो बात ही क्या। इच्छावालेको लोग अच्छा भी नहीं कहते। कहते हैं—'अमुक' बड़ा स्वार्थी है, पेटू है, चट्टू है।' उसके चाहनेपर हम कौन-सा अधिक दे देंगे? उलटा कम देंगे। स्वार्थका सम्बन्ध रखनेवालेको अधिक देना कोई नहीं चाहता। किसी साधु-ब्राह्मणको कुछ देंगे तो त्यागी देखकर ही देंगे या भोगी-रागी समझकर देंगे? घरमें भी रागीसे, भोगीसे वस्तु छिपायी जाती है। जो रागी नहीं होगा, उसके सामने वस्तु बेरोक-टोक आयेगी। रागीको वस्तु मिलनेमें भी बाधा लगेगी और कल्याणमें तो महती बाधा लगेगी ही। इसके विपरीत अपना कर्तव्य समझकर सेवा करोगे तो सेवा तो मूल्यवती होगी और वस्तु अनायासमें मिलेगी। आराम मुफ्तमें मिलेगा। मान-सत्कार-बड़ाई मुफ्तमें मिलेगी पर चाहोगे तो फँस जाओगे। यह बात गीता ग्रन्थि

खोलकर बताती है। तुम जो काम करो, इस रीतिसे करो। तीसरे अध्यायके १०—१२ श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

इस यज्ञसे वृद्धिको प्राप्त हो। यज्ञके द्वारा पूजित देवता तुम्हारी उन्नति करेंगे। अपने-अपने कर्तव्यद्वारा सृष्टिमात्रको सुख दो। इससे विश्व-ब्रह्माण्डका, प्राणिमात्रका हित होगा। स्वार्थ, ममता, आसक्ति छोड़कर कामना एवं कर्तृत्व-अभिमानका त्याग करके कर्तव्य-कर्म करनेसे सृष्टिमात्रको शान्ति मिलती है, सृष्टिमात्रका उद्धार होता है, कल्याण होता है, हित होता है। कितना बड़ा उपकार होता है केवल कामना छोड़नेसे। जो-जो कर्तव्य-कर्म करते हो, उसे किये जाओ; अकर्तव्य तो करो नहीं और कर्तव्य-कर्ममें कामना-आसक्ति न करो तो सारे संसारका हित होगा, सबका कल्याण होगा—'**श्रेयः परमवाप्स्यथ॥**' जो दूसरोंको उनका हिस्सा न देकर अकेला खाता है, वह चोर है—'**स्तेन एव सः॥**'

श्रीभगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

'यज्ञशेष खानेवाले सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो अपने लिये पकाते-कमाते हैं वे पापी पापका ही भक्षण करते

हैं—निरा पाप खाते हैं।' मनुष्यमें स्वार्थबुद्धि जितनी अधिक होगी, उतना ही बड़ा पापी वह होगा। एक बात और है। यज्ञ जो किया जाता है, उसमें होम मुख्य है—आहुति देना मुख्य है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें दी हुई आहुति सूर्यनारायणकी किरणोंकी पुष्टि पहुँचाती है और वे किरणें पुष्ट होकर जल खींचती हैं तथा वह जल मेघ बनकर बरसता है। उस वर्षासे जगत्की तृप्ति होती है। इससे भी यही बात प्रकट होती है। शुभ कर्म करनेसे देवताओंकी संतुष्टि होती है। आप यदि अपने माता-पिताकी आज्ञाको मानकर शुभ कर्म करेंगे तो इससे माता-पिता प्रसन्न होंगे ही। उनकी प्रसन्नता क्या सामान्य अर्थ रखती है? वह बड़ी मूल्यवान् निधि है। इसी प्रकार यदि आप अपने शास्त्रोंकी मर्यादाका पालन करेंगे तो इससे क्या ऋषि-मुनि-देवता आपसे प्रसन्न नहीं होंगे? यही है यज्ञके द्वारा उनका पूजन। उनका पूजन किस प्रकार होगा—यह भी भगवान् बतलाते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

प्राणी जितने भी पैदा होते हैं, वे अन्नसे होते हैं। अन्न होता है पर्जन्यसे—वर्षासे और वर्षा यज्ञसे होती है। यज्ञ किससे होता है? '**यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥**' यज्ञ कर्मसे निष्पन्न होता है। कर्म होता है वेदसे। वेद प्रकट होते हैं अक्षर परमात्मासे। इसलिये भगवान् कहते हैं—

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

(१७। २३)

सबका मूल है परमात्मा, परमात्मासे प्रकट हुए वेद। वेदोंने बतायी क्रियाकी विधि। क्रियासे कर्म किया ब्राह्मणोंने अर्थात् प्रजाने। उन कर्मोंसे हुआ यज्ञ, उस यज्ञसे हुई वर्षा। वर्षासे हुआ अन्न, अन्नसे हुए प्राणी और उन्हीं प्राणियोंमेंसे मनुष्योंने यज्ञ किया। यज्ञ पशु-पक्षी तो करनेसे रहे। ये वृक्ष, घास और पहाड़—यज्ञ थोड़े ही कर सकते हैं? मनुष्य ही कर सकते हैं। इस प्रकार यह सृष्टि-चक्र चल पड़ा। वह परमात्मा सर्वगत ब्रह्म नित्य यज्ञमें प्रतिष्ठित है। परमात्माकी सर्वगतताके विषयमें भगवान् कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९। ४)

'अव्यक्तरूपसे मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ।'

इसपर शंका होती है कि भगवान् जब सर्वगत हैं, तब उन्हें केवल यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित क्यों कहा? क्या वे अन्यत्र नित्य प्रतिष्ठित नहीं हैं? वे तो सभी जगह नित्य हैं। फिर यज्ञमें क्या विशेषता है? इसका उत्तर यह है कि यज्ञमें परमात्मा प्राप्त होते हैं। जमीनमें सर्वत्र जल है पर वह मिलता है कुएँमें, सब जगह नहीं मिलता। पाइपमें सब जगह जल भरा रहता है पर वह मिलता है वहीं; जहाँ कल लगी होती है। सब जगह जल है नहीं, ऐसी बात हम थोड़े ही कह सकते हैं पर सर्वत्र वह मिलता नहीं। इसीलिये सर्वगत ब्रह्मको यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित कहा गया है। यज्ञ कौन-सा? कर्तव्य-कर्ममात्र, जो निष्कामभावसे किया जाय, वही 'यज्ञ' है।

अब देखिये, यज्ञकी परिभाषा ध्यानमें आ गयी और उस यज्ञमें परमात्मा मिलते हैं—यह बात भी समझमें आ गयी। उस यज्ञके विषयमें भगवान् कहते हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

(गीता ३। १३)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

(गीता ४। ३१)

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(गीता ४। १६)

इसलिये कोई परमात्माकी प्राप्ति करना चाहे तो वह यज्ञ करे। जो यज्ञ नहीं करता, उसके विषयमें भगवान् कहते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३। १६)

उपर्युक्त चक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता, इसके अनुसार नहीं चलता, उसके लिये भगवान्ने तीन विशेषण दिये हैं—

'**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥**' 'अघायु' कहनेका तात्पर्य यह है कि उसकी आयु उसका जीवन निरा पापमय है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

'**जीवत जड़ नर परम अभागी**'—वे परम अभागे हैं।

'**जीवत सव सम चौदह प्रानी**'—वे जीते ही मुर्देके समान हैं जो भगवान्की दिशामें नहीं चलते। उनकी आयु अघरूप है। कहा है—

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

ऐसे लोग नररूपमें राक्षस हैं। मनुष्यको खा जाय वह राक्षस। उनके लिये दूसरा विशेषण दिया है—'इन्द्रियाराम'। केवल इन्द्रियोंको सुख पहुँचाना—भोग भोगना, सुस्वादु भोजन खाना, सुन्दर दृश्य

देखना, कोमल वस्तुओंका स्पर्श करना, आलस्यसे सोना—यही है—इन्द्रियारामता। तीसरी बात कहते हैं—'**मोघं पार्थ स जीवति**' वह संसारमें व्यर्थ ही जीता है। यह हुई सभ्यताकी भाषा। तात्पर्य है कि वह मर जाय तो अच्छा। उसका न जीना ही अच्छा है। श्रीगोस्वामीजीने कह दिया—'***कुंभकरन सम सोवत नीके॥***' यह तो सोया रहे तभी अच्छा। अभिप्राय यह कि ऐसे लोग पृथ्वीपर भाररूप ही हैं। पृथ्वीने कहा—'मुझे भार वनस्पतिका नहीं है, पहाड़ोंका नहीं है, मुझपर भार तो उसका है, जो भगवद्-भक्तिसे हीन है—'**भगवद्भक्तिहीनो यस्तस्य भारः सदा मम।**' 'उसका मुझपर सदा भार है।' 'उपर्युक्त सृष्टिचक्रका जो अनुवर्तन नहीं करता', भगवान् कहते हैं—'उसका जीवन भाररूप है।' सृष्टिचक्रका अनुवर्तन क्या है—यह ऊपर बता ही दिया गया। निष्काम भावसे या भगवान्‌की पूजाके भावसे अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करना ही सृष्टिचक्रका अनुवर्तन है। जिसका, जहाँ जो कर्तव्य-कर्म है, वह उस कर्मको करे। साथमें कर्तृत्वाभिमान न हो, ममता न हो, आसक्ति न हो, कामना न हो, पक्षपात न हो, विषमता न हो—ये सब विषरूप हैं। सिंगीमोरा, संखिया, कुचिला, भिलावा आदि जो जहर हैं उन्हें भी वैद्यलोग शुद्ध करके औषधरूपमें प्रयोग करते हैं, तब उनसे रोग दूर होते हैं। उनका जहर यदि बना रहे तो उससे मनुष्य मर जाता है। आसक्ति, कामना, पक्षपात, विषमता, अभिमान, स्वार्थ आदि सब कर्मोंमें जहररूप हैं। इस जहरके भागको निकाल देनेसे हमारे कर्म महान् अमृतमय होकर जन्म-मरणको मिटा देनेवाले बन जायँगे। कैसी बढ़िया बात है! गीता हमें यही सिखाती है!

कर्मचारियोंके तथा उद्योग-संचालकोंके कर्तव्य

प्रश्न-कर्मचारी-संघ यानी यूनियन कब और क्यों बनते हैं?

उत्तर-जिस संस्थामें कर्मचारी काम करते हैं, उसके मालिकोंका जब स्वार्थपूर्ण व्यवहार होने लगता है, वे उनपर अभिमानवश अनुचित शासन करते हुए उनको नीची दृष्टिसे देखकर उनके साथ असत् एवं अनुचित व्यवहार करने लगते हैं, तब कर्मचारियोंके मनमें द्वेष एवं प्रतिहिंसाकी भावना जाग्रत् होती है, साथ-ही-साथ उनके मनमें अपनी स्वार्थसिद्धिका विफल भ्रम भी पैदा हो जाता है। वे लोभके कारण अपने लाभका स्वप्न देखने लगते हैं। तब वे '**संघे शक्तिः कलौ युगे**' की नीति अपनाते हैं और प्रतिहिंसाकी भावनासे मालिकोंको दबानेके लिये यूनियन बना लेते हैं। परंतु यह याद रखना चाहिये कि जिस संस्था या संघका निर्माण द्वेष या प्रतिहिंसाकी भावनासे किया जाता है, उसके परिणाममें कभी भी शान्ति तथा यथार्थ लाभ नहीं मिलता; क्योंकि यह नियम है कि जिसकी आधारशिला ही क्रोध और लोभयुक्त होगी, उसका परिणाम किसीके लिये भी कभी हितकर नहीं हो सकता।

प्रश्न—संघके कर्मचारियोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—उनका कर्तव्य है कि उनके अपने लिये जो नियम बनाये गये हैं, प्रत्येक कर्मचारी उसपर ध्यान दे और अपने कर्तव्यका सुचारुरूपसे पालन करे।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः। (गीता १८। ४५)

अपने पीछे यूनियनके बलके अभिमानसे प्रेरित होकर द्वेष-वृत्तिसे संस्थाको नुकसान पहुँचानेकी चेष्टा की जाती है, वह सर्वथा निन्दनीय है। ऐसी चेष्टा कभी न हो, ऐसा दृढ़ संकल्प होना चाहिये। कारण, संस्थाकी सर्वतोमुखी उन्नतिपर ही उनकी उन्नति निर्भर है।

अपने साथियोंमें किसीकी कुछ भी त्रुटि हो तो उसको दूर करना अपना परम कर्तव्य समझें। अहितके भयसे किसीकी त्रुटि या दोषको छिपानेसे उस व्यक्तिका नैतिक पतन होगा और संघमें अन्यायका प्रचार होकर परिणाममें उलटा अहित ही होगा। इसलिये दोषीको कभी प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये।

आर्थिक उन्नति चाहनेवालोंका यह अटल ध्येय होना चाहिये कि वे जहाँ कार्य करते हैं, उस संस्थाकी एवं सभीकी न्यायपूर्वक आर्थिक उन्नति कैसे हो—यह सोचें और करें। केवल व्यक्तिगत आर्थिक उन्नतिकी इच्छा रखनेवालोंकी सुखदायी तथा स्थायी आर्थिक उन्नति नहीं हो सकती। यह नियम है।

अपने समयका बड़ी सावधानीसे सदुपयोग करना चाहिये। हम किसी संस्थामें समय लगाकर बदलेमें पैसा लेते हैं, अतः काम कम करना, पैसा अधिक चाहना—यह भाव बहुत ही हानिकारक है। हम जितने पैसे लेते हैं, उससे अधिक कार्य कर दें, जिससे हमारी कमाई शुद्ध होगी और न्यायपूर्वक कमाईके पैसोंका अन्न खानेसे हमारी बुद्धि पवित्र होगी। उससे उत्तरोत्तर लौकिक और पारलौकिक

उन्नति होगी। क्योंकि सब जगह विजय धर्मकी ही होती है। हमारे लिये जितने समय काम करनेकी जिम्मेदारी है, उस समयके बीचमें आर्थिक, शारीरिक और व्यावहारिक हानि करनेवाले प्रमाद एवं आलस्य और अनावश्यक कार्यमें समय नष्ट न हो जाय, इसके लिये विशेष सावधानी रखनी चाहिये।

कर्मचारियोंका कर्तव्य है कि वे संस्थाकी उन्नतिके साधनोंपर विशेष ध्यान रखें। उपभोक्ताओंके साथ उत्तम व्यवहार करें, चीजें शुद्धताके साथ बढ़िया बनावें एवं संस्थाकी कोई भी सामग्री कहीं भी नष्ट होती हो तो उसे अपनी व्यक्तिगत वस्तुकी तरह सँभालकर रखें। साथ ही संस्थाके प्रबन्धकोंका आदेश आदर और सत्कारपूर्वक पालन करनेकी चेष्टा करें।

प्रश्न—संस्थाके प्रबन्धकोंका क्या कर्तव्य होना चाहिये?

उत्तर—संसारमें लौकिक और पारलौकिक उन्नति सभी चाहते हैं। बुद्धिमान् वे ही कहे जा सकते हैं, जिनका मुख्य ध्येय आध्यात्मिक उन्नति ही होता है। आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवालोंको अपने उद्देश्यकी ओर सदा-सर्वदा सजग रहना चाहिये। मेरे सहयोगी रोटी, कपड़े तथा लौकिक वस्तुओंके अभावमें दुःख न पायें, मेरी तथा मेरे साथ काम करनेवालोंकी वास्तविक उन्नति कैसे हो, यह सोचते रहना चाहिये। यह तभी सम्भव है, जब अपनी भावना यह होगी कि उनका वास्तविक हित और उनके चित्तकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेना मेरा प्रधान कर्तव्य है। आध्यात्मिक उन्नतिका लक्ष्य हर समय जाग्रत् रहना चाहिये।

कार्यकर्ता, ग्राहक, सत्संगी, बाहरसे आनेवाले अतिथि एवं घरवालोंके साथ भीतरसे दोष-दृष्टिरहित होकर हितभरी भावनासे आदर, नम्रता और प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेका स्वभाव बनाना चाहिये।

'मैं कहीं अधिकारके अभिमानमें आकर कभी भी उनका अहित तो नहीं सोच लेता हूँ, उनका अपमान और तिरस्कार तो नहीं कर बैठता हूँ, उनके हकसे उन्हें वंचित तो नहीं करता हूँ, उनकी न्यायपूर्ण माँगोंकी उपेक्षा तो नहीं करता तथा उनके दुःखका कारण तो नहीं बन जाता हूँ—इस प्रकार विचार करते रहना चाहिये; क्योंकि दूसरोंका अहित सोचने, करने तथा उन्हें दुःख पहुँचानेसे अपना ध्येय तो कभी सिद्ध होता ही नहीं, वरं परिणाममें अहित तथा दुःखकी ही प्राप्ति होती है। इसलिये हर समय सभीके हितमें लगे रहना चाहिये, जिससे अपने ध्येयकी सिद्धि सुगमतासे होगी।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

(गीता १२।४)

यदि किसी कर्मचारीके द्वारा वास्तवमें कोई भूल ही हो गयी हो तो उसे सबके सामने अपमानित नहीं करना चाहिये। एकान्तमें प्रेमपूर्वक मीठे शब्दोंमें उसकी हितभरी भावनासे उसका दोष बताकर भविष्यमें इस प्रकारकी भूल न हो, इसके लिये चेतावनी देनी चाहिये।

प्रश्न—मनुष्य अपनी ही विजय चाहता है। सच्ची विजयका मार्ग क्या है?

उत्तर—विजयका वास्तविक स्वरूप है दूसरेके हृदयपर अधिकार प्राप्त करना। बलपूर्वक शक्तिसे दबाकर विजय

प्राप्त करना, वास्तविक विजय नहीं किंतु पराजय ही है; क्योंकि पराजितके हृदयमें दबा हुआ द्वेष अवसर पाकर भयंकर रूप धारण कर लेता है और विजय प्राप्त करनेवालेकी भविष्यमें पराजय करनेमें समर्थ होता है। अतः किसीको भी निर्बल समझकर उसका अनिष्ट करनेकी भावना कभी किंचित्-मात्र भी मनमें नहीं रखनी चाहिये। भगवान् श्रीरामने अंगदसे कहा—

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

वास्तविक विजय वहीं होती है, जहाँ इष्ट भगवान् और पालनीय धर्म होता है; क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं और धर्मका फल स्थायी है। इसलिये भगवान्का आश्रय और धर्मका आचरण होनेसे विजय होती है तथा लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति भी वहीं होती है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

(गीता १८। ७८)

जहाँ कृष्ण योगेश्वर हरि हों, जहाँ धनुर्धर पार्थ महान्।
वहीं विजय, श्री, ध्रुवा नीति रहतीं बिभूति-मति मेरी जान॥

जहाँ पैसा ही इष्ट हो और उपाय झूठ-कपट हो, वहाँ पाप, दुःख, आपसमें संघर्ष, अन्याय तथा अहितरूपसे पराजय ही होगी।

वास्तविक विजयकी इच्छा रखनेवालोंको अपना तथा दूसरोंका तत्काल तथा परिणाममें हित हो, वही काम करना चाहिये। इनमें तत्कालकी अपेक्षा परिणामकी और अपने हितकी अपेक्षा दूसरेके हितकी प्रधानता है। कोई भी संस्था

हो, जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थके त्यागी, सत्यवादी, कर्तव्यपरायण और दूसरोंके हितैषी कार्यकुशल एवं तत्परतावाले पुरुष अधिक होंगे, वहाँ सफलता, न्याय और विजय स्वतः होगी। अपनी संख्या अधिक बढ़ाना अपनी वास्तविक विजयमें खास कारण नहीं है, किंतु जितने हैं, उतने ही उत्तम आचरणवाले बनें, इसीसे विजय होती है। जैसे अधिक संख्यावाले कौरवोंपर कम संख्यावाले पाण्डवोंकी विजय हो गयी।

चंदनकी चुटकी भली, गाडी भलौ न काठ।
बुद्धिवान एकहि भलौ, मूरख भला न साठ॥

विषयासक्ति और भगवत्प्रीतिमें भेद

	आसक्ति	प्रीति
१.	अनित्य	नित्य
२.	उत्पन्न	अनुत्पन्न
३.	अविवेकसिद्ध	विवेकसिद्ध
४.	घटती, बढ़ती, मिटती है	केवल बढ़ती ही है
५.	सीमित	असीम
६.	परिच्छिन्न	अपरिच्छिन्न
७.	बाँधती है	मुक्त करती है
८.	मृत्यु देती है	अमर करती है
९.	पराधीन करती है	स्वाधीन करती है
१०.	एकतामें अनेकता दिखती है	अनेकतामें एकता दिखती है
११.	रुलाती है	हँसाती है
१२.	अप्रसन्नता लाती है	प्रसन्नता लाती है
१३.	दुःखदायिनी	सुखदायिनी
१४.	अशान्तिदा	शान्तिदा
१५.	भयदा	अभयदा
१६.	आदि-अन्तमें नीरस	सदा रसवर्द्धिनी
१७.	सबसे निरादर कराती है	भगवान्से भी आदर कराती है
१८.	मलिनता लाती है	शुद्धि लाती है
१९.	चिन्ता देती है	निश्चिन्त करती है
२०.	पतन करती है	उत्थान करती है

२१.	औरोंके लिये भी दुःखद	भगवान्‌के लिये भी सुखद
२२.	सदोष	निर्दोष
२३.	लेना-ही-लेना	देना-ही-देना
२४.	अप्राप्त	प्राप्त
२५.	कृत्रिम	सहज
२६.	जडता	चिन्मयता

मनकी हलचलके नाशके सरल उपाय

संत-महात्मा या महापुरुष प्रायः अपने प्रवचनमें बार-बार कहा करते हैं कि जिस कामको हमलोग कर नहीं सकते अर्थात् जिसका होना हमसे सम्भव ही नहीं है, तथा जिसे करना भी नहीं चाहिये, उसको करनेकी इच्छासे अशान्ति होगी ही। अतः उसे करनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसी इच्छा होनेसे कोई चीज पूरी मिलती नहीं, यदि मिल भी जाय तो ठहरती नहीं, ठहरती है तो अपूर्ण होनेके कारण उससे तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये इच्छा या कामना रखकर क्रिया करना उचित नहीं है। यदि यही चाह परमात्माकी प्राप्तिके लिये उत्कट हो जाय तो उनकी प्राप्ति हो जाय। श्रीभगवान् नित्य प्राप्त हैं, इसलिये केवल चाहमात्रसे ही मिल जाते हैं। उनकी प्राप्ति होनेके बाद कृतकृत्यता, ज्ञात-ज्ञातव्यता और प्राप्त-प्राप्तव्यता सभी प्राप्त हो जाती है, कुछ भी बाकी नहीं रहता।

विचार करना चाहिये—जो होनेवाला है वह होकर रहेगा। जो नहीं होनेवाला है वह होगा नहीं। फिर नयी चाह करें ही क्यों? केवल अपने कर्तव्यका तत्परतासे पालन करते रहें।

जब भी मनमें दुःख, शोक, चिन्ता, विषाद और हलचल हो तभी यदि नीचे लिखे सिद्ध मन्त्रोंकी कई बार आवृत्ति कर ली जाय तो ये सभी विकार शीघ्र ही दूर हो सकते हैं।

भविष्यकी चिन्ता मिटानेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते॥

अर्थ—जो नहीं होनेवाला है वह होगा नहीं, जो होनेवाला है वह होकर ही रहेगा। चिन्तारूपी विषका शमन करनेवाली इस ओषधिका पान क्यों न किया जाय!

(ख) होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालकी चिन्ता मिटानेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

(गीता २। ११)

अर्थ—तू शोक न करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।

(ख) होत ब होत बड़ो बली ताको अटल बिचार।
किंण मानी मानी नहीं होनहार से हार॥

हर समय भगवान्‌के भरोसे प्रसन्न रहनेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

अर्थ—सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर (समर्पितकर) तू केवल एक मेरी ही शरणमें

आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

(ख) चिन्ता दीनदयाल को मो मन सदा अनन्द।
जायो सो प्रतिपालिहै रामदास गोविन्द॥

अन्तःकरणमें अधिक उथल-पुथल होनेपर मनको समझानेके लिये

(सिद्ध मन्त्र)

(क) मना मनोरथ छोड़ दे तेरा किया न होय।
पानी में घी नीपजे तो रूखा खाय न कोय॥

भजन

(ख) जीव तू मत करना फिकरी, जीव तू मत करना फिकरी।
भाग लिखी सो हुई रहेगी, भली बुरी सगरी॥ टेर॥
तप करके हिरनाकुश आयो, वर पायो जबरी।
लोह लकड़ से मर्‍यो नहीं, वो मर्‍यो मौत नखरी॥ १॥
सहस्त्र पुत्र राजा सगरके, तप कीनो अकरी।
थारी गति ने तू ही जाने, आग मिली ना लकरी॥ २॥
तीन लोक की माता सीता, रावण जाय हरी।
जब लक्ष्मणने लंका घेरी, लंका गइ बिखरी॥ ३॥
आठ पहर साहेब को रटना, ना करना जिकरी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो रहना बे-फिकरी॥ ४॥

चिन्ता छोड़ते हुए अपने कर्तव्यसे कभी च्युत न हों। श्रीभगवान्‌की आज्ञा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

अर्थ—तेरा कर्म करनेमात्रमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं और तू कर्मोंके फलकी वासनावाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न हो।

इसलिये करनेमें सावधान रहे और जो हो जाय, उसमें प्रसन्न रहे एवं सदा भगवन्नाम जपता रहे।

श्रीभगवन्नाम-माहात्म्य

सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिये भगवन्नाम खास औषध है। चारों ही युग और चारों ही वेदोंमें नामकी महिमा है, परंतु कलियुगमें विशेष है; क्योंकि कलियुगमें इसके समान कोई उत्तम उपाय नहीं है—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

तुलसी हठि हठि कहत नित, चित सुनि हित करि मानि।
लाभ राम सुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि॥
बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥

जितनी ही प्रतिकूल परिस्थिति आती है, वह सब पूर्व-पापोंका नाश करनेके लिये तथा अपने कर्तव्यके विषयमें सचेत करनेके लिये आती है। उस समय यह विचार करे—'इससे मेरा अन्तःकरण पवित्र हो रहा है।' हृदयकी सारी हलचल मिटाने और अन्तःकरणको भगवन्मुखी बनानेके लिये जप और कीर्तन करना चाहिये एवं श्रीभगवान्‌को

बारम्बार प्रणाम करना चाहिये। श्रीमद्भागवतके अन्तिम श्लोकमें कहा है—

नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥

अर्थ—जिनके नामोंका संकीर्तन सारे पापोंको सर्वथा नष्ट कर देता है और जिनको किया हुआ प्रणाम सारे दुःखोंको शान्त कर देता है, उन्हीं परमेश्वर श्रीहरिको मैं प्रणाम करता हूँ।

मनकी हलचलका कारण क्या है?

जब मनमें हलचल होने लगे तभी यह विचार करना चाहिये कि इसका कारण क्या है। गहराईसे विचार करनेपर पता लगेगा कि अपनी मनचाहीका न होना और अनचाहीका हो जाना—यही मनकी हलचलका कारण है।

भक्तियोगकी दृष्टिसे शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तथा मैंपन अपना नहीं है; अपितु सब कुछ भगवान्‌का है। इनको अपना और अपनेको भगवान्‌से अलग मानना, इस विपरीत मान्यतासे ही मनमें दुःख और हलचल होती है। हलचल होनेका और कोई कारण नहीं है। जो कुछ होता है वह हमारे परमसुहृद् प्रभुका मंगलमय विधान है, यह सोचकर प्रसन्न होना चाहिये; उलटे मनको मैला करना सर्वथा नासमझी ही है।

ज्ञानयोगकी दृष्टिसे शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तथा मैंपन सब कुछ प्रकृतिका है। मैंका आधार परमात्मतत्त्व है, वह अपना स्वरूप ही है। प्रकृति ही प्रकृतिके गुणोंमें बर्त रही है (गीता अध्याय १३ श्लोक २९), स्वरूप तो अपने-आपमें नित्य स्थित है ही। उसमें क्रिया करना-कराना सम्भव ही नहीं है। तब फिर हलचल कैसी?

कर्मयोगकी दृष्टिसे शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि तथा मैंपन—यह सब कुछ अपना नहीं, संसारका है और इनको संसारकी सेवामें ही लगाना है। अपने लिये इनकी आवश्यकता नहीं है। इनको अपना तथा अपने लिये माननेसे ही दुःख आता और हलचल होती है। यह मान्यता—यह भूल मिट गयी, फिर दुःख और हलचल कैसे रह सकती है?

ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, पुरुषार्थवाद और प्रारब्धवाद इन सबका तात्पर्य मनकी चिन्ताको मिटानेमें ही है, कर्तव्यकर्मको छुड़ा देनेमें बिलकुल नहीं है।

उपर्युक्त दृष्टियोंसे यह बात सिद्ध होती है कि शरीर आदिको चाहे तो भगवान्‌का, चाहे प्रकृतिका और चाहे संसारका मान लो। 'ये अपने नहीं हैं'—इस नित्य-सिद्ध बातको न मानकर अपना मानना भूल और बेसमझी है। यही दुःखोंका और हलचलका कारण है। भूल मिटनेके बाद हलचलके लिये किंचिन्मात्र भी स्थान नहीं है। फिर तो केवल आनन्द-ही-आनन्द है।

दैवी सम्पदा एवं आसुरी सम्पदा

श्रीगीतामें कहा है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पत्ति मुक्तिके लिये और आसुरी सम्पत्ति बन्धनके लिये है। दैवी सम्पत्तिमें 'दैव' शब्द देवताका नहीं, परमात्माका वाचक है। उस परमात्माकी जो सम्पत्ति है, वही दैवी सम्पत्ति है। जैसे संसारके धनसे संसारकी वस्तुएँ मिलती हैं, इसी प्रकार यह दैवी सम्पत्ति परमात्माको प्राप्त करानेवाली है। गीता अध्याय १६ श्लोक १, २, ३ में २६ गुण दैवी सम्पत्तिके हैं। इनको अपनेमें लावे। संसारमें दो प्रकारके पुरुष होते हैं—एक तो सद्गुण-सदाचारको मुख्य मानते हैं। दूसरे भगवान्‌के भजनको, भगवान्‌को मुख्य मानते हैं, पहलेवाले कहते हैं—भगवान्‌के सम्बन्धकी, भगवान्‌के भजनकी क्या आवश्यकता है, भाव और आचरण अच्छे होने चाहिये; क्योंकि भाव और आचरण ही श्रेष्ठ हैं। इनका ही संसारमें आदर है पर दूसरे जो भगवान्‌का आश्रय लेनेवाले हैं, उनमें भगवान्‌के गुण तो स्वाभाविक ही आयेंगे। जिनमें भगवान्‌का भजन करते हुए भी अच्छे आचरण और गुण कम आते हैं, उनका वास्तवमें ध्येय परमात्मा नहीं है। ध्येय सांसारिक पदार्थ एवं भोग है। भगवान्‌के बिना अच्छे आचरण, सद्गुण और सद्भाव आने कठिन हैं; क्योंकि मूल परमात्मा ही नहीं है तो वे किसके आश्रित रहेंगे। अतएव हर समय भगवान्‌को याद रखें। हर कार्यके आदि एवं अन्तमें तो भगवान्‌को अवश्य याद कर लें। काम करते हुए याद न भी रहे तो हानि नहीं; क्योंकि उस वक्त कार्यमें तल्लीनता होनेके कारण

न परमात्मा याद है न संसार। वृत्ति केवल एक कार्यमें लगी है। कार्य समाप्त होते ही भगवान्‌को फिर याद कर लें। तो फिर सारा काम ही भगवान्‌का हो जायगा। भगवान्‌को याद रखनेसे, भगवान्‌का आश्रय लेनेसे दैवी सम्पदा अपने-आप आ जाती है। अपने जान भी नहीं पाते और आ जाती है। भगवान् श्रीरामने वनवासमें शबरीसे कहा—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥

'मैं तुझे नवधा भक्ति कहता हूँ। तू सावधान होकर सुन तथा उसे धारण कर।' फिर अन्तमें कहते हैं—

'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥'

अभी तो सावधानीसे सुनने, मनमें धारण करनेको कहा। फिर कहते हैं—'तुझमें सब प्रकारकी भक्ति दृढ़ है' तो धारण करनेको क्यों कहा? इसका उत्तर है निरन्तर सेवन करनेसे दृढ़ता आती है। अभिप्राय है कि शबरीमें नवधा भक्ति तो दृढ़तासे है पर भक्तिके नौ प्रकार हैं यह उसे पता नहीं है। वह भजन करनेवाली है, व्याख्यान देनेवाली नहीं है। उसमें स्वाभाविक ही भक्ति आ गयी है। भगवान्‌को याद करनेसे, नाम लेनेसे सब गुण बिना बुलाये, बिना जाने स्वाभाविक ही आ जाते हैं। अतः दैवी सम्पत्तिमें सबसे पहली बात है भगवान्‌को याद करना, उनके शरण होना, मस्तीसे उनके दरबारमें रहना, कृपा मानकर उनके आश्रित रहना, खूब उत्साहपूर्वक रहना। जो अवसर प्राप्त हो जाय, उसमें भगवान्‌की अपार कृपा समझना। काम, क्रोध और लोभ—ये तीन इसमें बाधक हैं, इनका त्याग करे। 'यह मिले', 'वह मिले' इस इच्छाका नाम 'काम' है, यह और अधिक मिले इसका नाम 'लोभ' है तथा इन इच्छाओंकी प्राप्तिमें बाधा आनेपर

'क्रोध' होता है। इन तीनोंका त्याग करे। आसुरी सम्पत्तिका त्याग करे—दैवी सम्पत्ति लानेके लिये।

सार बात है—भगवान्‌को याद रखें। गीताके सातवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके ग्यारहवें और बारहवें श्लोकोंमें भगवान्‌ने कहा कि 'आसुरी और राक्षसी प्रकृतिको धारण करनेवाले मूढ़ मेरा भजन नहीं करते; किंतु मेरा तिरस्कार करते हैं तथा नवें अध्यायके तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंमें कहा कि 'दैवी प्रकृतिसे युक्त महात्माजन मुझे सब भूतोंका आदि और अविनाशी समझकर अनन्य प्रेमके साथ सब प्रकारसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।' इस प्रकार दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति—इन दोनोंका विभाग करनेके लिये ही गीताके सोलहवें अध्यायका प्रकरण चला है। भगवान्‌का आश्रय लेनेसे सब गुण अपने-आप ही आ जाते हैं।

जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥

भगवान्‌के भजनसे बड़े-बड़े गुण अपने-आप आ जाते हैं। हर एक कामको भगवदाश्रित होकर आनन्दसे करे। भगवान्‌का विधान मानकर मस्त रहे। यही भजन है। प्रभुका आश्रय लेकर मस्त रहे। फिर सब दैवी गुण अपने-आप ही आ जायँगे।

भगवत्प्राप्तिके लिये भविष्यकी अपेक्षा नहीं

एक बहुत ही मार्मिक बात है, जिसकी तरफ साधकोंका ध्यान बहुत कम है। यदि उसपर विशेष ध्यान दिया जाय तो जल्दी-से-जल्दी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है।

साधकोंके भीतर एक गलत धारणा दृढ़तासे जमी हुई है कि जैसे संसारका कोई काम करते-करते होता है, तत्काल नहीं होता; वैसे ही अर्थात् उसी रीतिसे भगवान्‌की प्राप्ति भी साधन करते-करते होती है, तत्काल नहीं होती। ऐसी धारणा ही भगवत्प्राप्तिमें देर कर रही है। जैसे, यदि बालक माँके पीछे पड़ जाय कि मुझे तो अभी ही लड्डू दे तो लड्डू बना हुआ नहीं होनेपर माँ उसे तत्काल कैसे बनाकर दे देगी? यद्यपि माँका अपने बालकपर बड़ा स्नेह, बड़ा प्यार है; क्योंकि उसके लिये अपने बालकसे बढ़कर प्यारा और कौन है? परन्तु फिर भी लड्डू बनानेमें समय तो लगेगा ही। ऐसे ही किसी स्थानपर जाना हो, किसी वस्तुका सुधार करना हो, किसी वस्तुको बदलना हो—इन सबमें समयकी अपेक्षा है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक वस्तुको प्राप्त करनेमें तो समय लगता है; परन्तु भगवान्‌को प्राप्त करनेमें समय नहीं लगता—यह एक बहुत मार्मिक बात है।

हम सब-के-सब परमात्मरूप कल्पवृक्षकी छायामें रहते हैं। इस कल्पवृक्षकी छायामें रहते हुए यदि हम ऐसा भाव रखते हैं कि बहुत साधन करनेपर भविष्यमें कभी भगवत्प्राप्ति होगी तो अपनी धारणाके अनुसार भगवान् भविष्यमें ही कभी मिलेंगे। यदि हम ऐसा भाव बना लें कि भगवान् तो

अभी मिलेंगे तो वे अभी ही मिल जायँगे। भगवान्ने स्वयं कहा भी है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

(गीता ४। ११)

'जो मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

अतएव भगवान्की प्राप्तिमें भविष्य नहीं है। हमलोगोंकी भावनामें ही भविष्य है।

इस विषयमें एक बात विशेष महत्त्वकी है कि संसारके जितने भी काम हैं, सब-के-सब बनने और बिगड़नेवाले हैं। बननेवाले काममें देर लगती है, परन्तु बने-बनाये (विद्यमान) काममें देर कैसे लग सकती है? परमात्मा भी विद्यमान हैं और हम भी विद्यमान हैं। उनके और हमारे बीच देश-काल आदिका कोई भी व्यवधान नहीं है; फिर परमात्माकी प्राप्तिमें देर क्यों लगनी चाहिये?

भगवान् सब समयमें, सब देश (स्थान)-में, सब वस्तुओंमें तथा सब प्राणियोंमें विद्यमान हैं। समय, देश, वस्तु, प्राणी आदि सब-के-सब बदलनेवाले हैं अर्थात् निरन्तर नहीं रहते। इसके विपरीत हम (स्वयं) भी निरन्तर रहनेवाले हैं और भगवान् भी। ऐसे भगवान्को प्राप्त करनेके लिये हमने ऐसी धारणा बना ली है कि जब संसारका कोई साधारण काम भी शीघ्र नहीं होता, तब जो सबसे महान् हैं, उन भगवान्की प्राप्तिका कार्य शीघ्र कैसे हो जायगा? परन्तु वास्तवमें सबसे ऊँची वस्तु सबसे सहज-सुलभ भी होती है! भगवान् सबके

लिये हैं और सबको प्राप्त हो सकते हैं। स्वयं हमने ही भगवान्‌की प्राप्तिमें आड़ लगा रखी है कि वे वैरागी-त्यागी पुरुषोंको मिलते हैं, हम गृहस्थियोंको कैसे मिलेंगे? वे जंगलमें रहनेवालोंको मिलते हैं, हम शहरमें रहनेवालोंको कैसे मिलेंगे? कोई अच्छे गुरु नहीं मिलेंगे तो भगवान् कैसे मिलेंगे? कोई बढ़िया साधन नहीं करेंगे तो भगवान् कैसे मिलेंगे? आजकल भगवत्प्राप्तिका मार्ग बतलानेवाले कोई अच्छे महात्मा भी नहीं रहे तो हमें भगवान् कैसे मिलेंगे? हमारे भाग्यमें ही नहीं है तो भगवान् कैसे मिलेंगे? हम तो अधिकारी ही नहीं हैं तो भगवान् हमें कैसे मिलेंगे? हमारे कर्म ही ऐसे नहीं हैं तो भगवान् हमें कैसे मिलेंगे?—इस प्रकार न जाने कितनी आड़ें हमने स्वयं ही लगा रखी हैं। भगवान्‌को हमने इन आड़ोंके, पहाड़ोंके ही नीचे दबा दिया है! ऐसी स्थितिमें बेचारे भगवान् क्या करें? हमें कैसे मिलें?

पार्वतीने 'तप करनेसे ही शिवजी मिलेंगे', ऐसा भाव रखकर स्वयं ही शिवजीकी प्राप्तिमें आड़ लगा दी थी; इसी कारण उन्हें तप करना पड़ा*। तपस्याका भाव भीतर रहनेके कारण तप करनेसे ही शिवजी मिले। इसी प्रकार भावके कारण ही ध्रुवको छः मासके तपके बाद भगवान् मिले। भगवान्‌के मिलनेमें वस्तुतः कोई देर नहीं लगी। जिस समय ऐसा भाव हुआ कि अब मैं

* पार्वतीके मनमें पहले ही यह भाव हो गया था कि शिवजीकी प्राप्ति कठिन है—

भगवान्‌के बिना रह नहीं सकता, उसी समय भगवान् मिल गये।

किसी योग्यताके बदलेमें भगवान् मिलेंगे, यह बिलकुल गलत धारणा है। यह सिद्धान्त है कि किसी मूल्यके बदलेमें जो वस्तु प्राप्त होती है, वह वस्तुतः उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है। यदि दूकानदार किसी वस्तुको १०० रुपयेमें बेचता है तो निश्चय ही दूकानदारने उस वस्तुको १०० रुपयेसे कम मूल्यमें खरीदा होगा। इसी प्रकार यदि हम ऐसा मानते हैं कि विशेष योग्यता अथवा साधन, यज्ञ-दानादि बड़े-बड़े कर्मोंसे भगवान् मिलते हैं तो भगवान् उनसे कम मूल्यमें ही

उपजेउ सिव पद कमल सनेहू। मिलन कठिन मन भा संदेहू॥
(मानस १। ६८। ३)

बादमें देवर्षि नारदने कह दिया कि तप करनेसे ही शिवजी मिल सकते हैं—

दुराराध्य पै अहहिं महेसू। आसुतोष पुनि किएँ कलेसू॥
जौं तपु करै कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥
(१। ७०। २-३)

माता-पितासे भी पार्वतीको तप करनेकी ही प्रेरणा मिली—

अब जौं तुम्हहि सुता पर नेहू। तौ अस जाइ सिखावनु देहू॥
करै सो तपु जेहिं मिलहिं महेसू। आन उपायँ न मिटिहि कलेसू॥
(१। ७२। १)

स्वप्नमें भी पार्वतीको तप करनेकी ही शिक्षा मिली—

करहि जाइ तपु सैलकुमारी। नारद कहा सो सत्य बिचारी॥
मातु पितहि पुनि यह मत भावा। तपु सुखप्रद दुख दोष नसावा॥
(१। ७३। १)

इन्हीं सब कारणोंसे पार्वतीके मनमें यह भाव दृढ़ हो गया कि तप करनेसे ही शिवजी मिलेंगे, अन्यथा नहीं।

हुए! परन्तु भगवान् किसीसे कम मूल्यके नहीं हैं[१], इसलिये वे किसी साधन-सम्पत्तिसे खरीदे नहीं जा सकते[२]। यदि किसी मूल्यके बदलेमें भगवान् मिलते हैं तो ऐसे भगवान् मिलकर भी हमें क्या निहाल करेंगे? क्योंकि उनसे बढ़िया (अधिक मूल्यकी) वस्तुएँ योग्यता, तप-दानादि तो हमारे पास पहलेसे ही हैं!

हम जैसा चाहते हैं, वैसे ही भगवान् हमें मिलते हैं। दो भक्त थे। एक भगवान् श्रीरामका भक्त था, दूसरा भगवान् श्रीकृष्णका। दोनों अपने-अपने भगवान् (इष्टदेव)-को श्रेष्ठ बतलाते थे। एक बार वे जंगलमें गये। वहाँ दोनों भक्त अपने-अपने भगवान्‌को पुकारने लगे। उनका भाव यह था कि दोनोंमेंसे जो भगवान् शीघ्र आ जाय, वही श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीकृष्ण शीघ्र प्रकट हो गये। इससे उनके भक्तने उन्हें श्रेष्ठ बतला दिया। थोड़ी देरमें भगवान् श्रीराम भी प्रकट हो गये। इसपर उनके भक्तने कहा कि आपने मुझे हरा दिया; भगवान् श्रीकृष्ण तो पहले आ गये पर आप

१- अर्जुन भगवान्‌से कहते हैं—

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

(गीता ११। ४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक तो कैसे हो सकता है?'

२-नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

(गीता ११। ५३)

'हे अर्जुन! जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है, इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ।'

देरसे आये जिससे मेरा अपमान हो गया! भगवान् श्रीरामने अपने भक्तसे पूछा—'तूने मुझे किस रूपमें याद किया था?' भक्त बोला—'राजाधिराजके रूपमें।' तब भगवान् श्रीराम बोले—'बिना सवारीके राजाधिराज कैसे आ जायँगे। पहले सवारी तैयार होगी, तभी तो वे आयेंगे!' कृष्ण-भक्तसे पूछा गया तो उसने कहा—'मैंने तो अपने भगवान्‌को गाय चरानेवालेके रूपमें याद किया था कि वे यहीं जंगलमें गाय चराते होंगे।' इसीलिये वे पुकारते ही तुरन्त प्रकट हो गये।

दुःशासनके द्वारा भरी सभामें चीर खींचे जानेके कारण द्रौपदीने 'द्वारकावासिन् कृष्ण' कहकर भगवान्‌को पुकारा, तो भगवान्‌के आनेमें थोड़ी देर लगी। इसपर भगवान्‌ने द्रौपदीसे कहा कि तूने मुझे 'द्वारकावासिन्' (अर्थात् द्वारकामें रहनेवाले) कहकर पुकारा, इसलिये मुझे द्वारका जाकर फिर वहाँसे आना पड़ा। यदि तू कहती कि यहींसे आ जाओ तो मैं यहींसे प्रकट हो जाता।

भगवान् सब जगह हैं। जहाँ हम हैं, वहीं भगवान् भी हैं। भक्त जहाँसे भगवान्‌को बुलाता है, वहींसे भगवान् आते हैं। भक्तकी भावनाके अनुसार ही भगवान् प्रकट होते हैं।

जाके हृदयँ भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती॥

* * *

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

(मानस १। १८५। २-३)

जब भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके बीचसे अन्तर्धान हो गये तो गोपियाँ पुकारने लगीं—

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३१। १)

'हे प्रिय! तुममें अपने प्राण समर्पित कर चुकनेवाली हम सब तुम्हारी प्रिय गोपियाँ तुम्हें सब ओर ढूँढ़ रही हैं, अतएव अब तुम तुरन्त दिख जाओ।'

गोपियोंकी पुकार सुनकर भगवान् उनके बीचमें ही प्रकट हो गये—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

(श्रीमद्भागवत १०। ३२। २)

'ठीक उसी समय उनके बीचोबीच भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था, गलेमें वनमाला थी, पीताम्बर धारण किये हुए थे। उनका यह रूप क्या था, सबके मनको मथ डालनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था।'

इस प्रकार गोपियोंने 'प्यारे! दिख जाओ' (**दयित दृश्यताम्**)—ऐसा कहा तो भगवान् वहीं दिख गये। यदि वे कहतीं कि कहींसे आ जाओ तो भगवान् वहींसे आते।

भगवान्की प्राप्ति साधनके द्वारा होती है—यह बात भी यद्यपि सच्ची है, परन्तु इस बातको मानकर चलनेसे साधकको भगवत्प्राप्ति देरसे होती है। यदि साधकका ऐसा भाव हो जाय कि मुझे तो भगवान् अभी मिलेंगे तो उसे भगवान् अभी ही मिल जायँगे। वे यह नहीं देखेंगे कि भक्त कैसा है, कैसा नहीं है? काँटोंवाले वृक्ष हों, घास हो, खेती हो, पहाड़ हो, रेगिस्तान हो या समुद्र हो; वर्षा सबपर

समानरूपसे बरसती है। वर्षा यह नहीं देखती कि कहाँ पानीकी आवश्यकता है और कहाँ नहीं? इसी प्रकार जब भगवान् कृपा करते हैं तो यह नहीं देखते कि यह पापी है या पुण्यात्मा? अच्छा है या बुरा? वे सब जगह बरस जाते अर्थात् प्रकट हो जाते हैं*।

पापी-से-पापी पुरुषको भी भगवान् मिल सकते हैं (गीता ९। ३०)। सदन कसाई और डाकुओंको भी भगवान् मिल गये थे! भगवान् तो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हैं, केवल भावकी आवश्यकता है। अन्तःकरणके अशुद्ध होनेपर वैसा भाव नहीं बनता, यह बात ठीक होते हुए भी वस्तुतः साधकके लिये बाधक है। शास्त्रोंमें पतिव्रता स्त्रीकी बड़ी महिमा गायी गयी है कि भगवान् भी उसके वशमें हो जाते हैं। यदि कोई कहे कि हममें पातिव्रत-भाव नहीं बन सकता तो यह उसकी भूल है। पापी-से-पापी पुरुषोंकी भी स्त्रियाँ पतिव्रता हुई हैं और श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ पुरुषोंकी भी। भगवान् श्रीरामकी पत्नी सीताजी भी पतिव्रता थीं और राक्षसराज

---

* आदि शंकराचार्यजीने कहा है—

अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थ न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे॥
अन्तःस्वभावभोक्ता ततोऽन्तरात्मा महामेघः।
खदिरश्चम्पक इव वा प्रवर्षणं किं विचारयति॥

(प्रबोधसुधाकर २५२-२५३)

'किसीपर कृपा करते समय भगवान् ऐसा विचार नहीं करते कि यह जाति, रूप, धन और आयुसे उत्तम है या अधम? स्तुत्य है या निन्द्य?' 'यह अन्तरात्मा (श्रीकृष्ण)-रूपी महामेघ आन्तरिक भावोंका ही भोक्ता है; मेघ क्या वर्षाके समय इस बातका विचार करता है कि यह खदिर (खैर) है अथवा चम्पक (चम्पा)?'

रावणकी पत्नी मन्दोदरी भी। ऐसा नहीं कि श्रीरामकी पत्नी तो पतिव्रता हो सकती है पर रावणकी पत्नी नहीं। पातिव्रत-धर्मका पालन करनेके कारण ही मन्दोदरी तो भगवान् श्रीरामको तत्त्वसे जानती थी, परन्तु रावण नहीं जानता था (द्रष्टव्य—मानस, लंका० १५-१६)।

वर्तमान युग (कलियुग)-में तो भगवान् सुगमतासे मिलते हैं; क्योंकि अब उनके ग्राहक बहुत कम हैं। ग्राहक बहुत कम हों तो माल सस्ता मिलता है; क्योंकि तब बेचनेवालेको गरज होती है। इसलिये ऐसा भाव नहीं रखना चाहिये कि इस घोर कलियुगमें भगवान् इतनी सुगमतासे कैसे मिलेंगे?

अपना दृढ़ विचार कर लें कि चाहे दुःख आये या सुख, अनुकूलता आये या प्रतिकूलता, हमें तो भगवान्‌को प्राप्त करना ही है। यदि हम पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेमें लग जायँगे तो भगवत्प्राप्तिमें बहुत देर लगेगी। हमारे उद्योग करनेकी अपेक्षा भगवान्‌की अनन्त अपार कृपाशक्ति हमें बहुत शीघ्र शुद्ध कर देगी। बच्चा कीचड़से लिपटा भी हो, यदि माँकी गोदमें चला जाय तो माँ स्वयं ही उसे साफ कर देती है।

एक राजा सायंकाल महलकी छतपर टहल रहे थे। सहसा उनकी दृष्टि नीचे बाजारमें घूमते हुए एक संतपर पड़ी। संत अपनी मस्तीमें ऐसे चल रहे थे कि मानो उनकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। राजा अच्छे संस्कारवाले पुरुष थे। उन्होंने अपने आदमियोंको उन संतको तत्काल ऊपर ले आनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाते ही राजपुरुषोंने ऊपरसे ही रस्से लटकाकर उन संतको (रस्सोंमें फँसाकर) ऊपर खींच लिया। इस कार्यके लिये राजाने उन संतसे क्षमा माँगी और

कहा कि एक प्रश्नका उत्तर पानेके लिये ही मैंने आपको कष्ट दिया। प्रश्न यह है कि भगवान् शीघ्र कैसे मिलें? संतने कहा—'राजन्! इस बातको तुम जानते ही हो।' राजाने पूछा—'कैसे?' संत बोले—'यदि मेरे मनमें तुमसे मिलनेका विचार आता तो कई अड़चनें आतीं और बहुत देर लगती। पता नहीं मिलना सम्भव भी होता या नहीं। पर जब तुम्हारे मनमें मुझसे मिलनेका विचार आया, तब कितनी देर लगी? राजन्! इसी प्रकार यदि भगवान्के मनमें हमसे मिलनेका विचार आ जाय तो फिर उनके मिलनेमें देर नहीं लगेगी।' राजाने पूछा—'भगवान्के मनमें हमसे मिलनेका विचार कैसे आ जाय?' संत बोले—'तुम्हारे मनमें मुझसे मिलनेका विचार कैसे आया?' राजाने कहा—'जब मैंने देखा कि आप एक ही धुनमें चले जा रहे हैं और सड़क, बाजार, दूकानें, मकान, मनुष्य आदि किसीकी भी तरफ आपका ध्यान नहीं है, तब मेरे मनमें आपसे मिलनेका विचार आया।' संत बोले—'राजन्! ऐसे ही तुम एक ही धुनमें भगवान्की तरफ लग जाओ, अन्य किसीकी भी तरफ मत देखो, उनके बिना रह न सको तो भगवान्के मनमें तुमसे मिलनेका विचार आ जायगा और वे तुरन्त मिल जायँगे।'*

भगवान् ही हमारे हैं, दूसरा कोई हमारा है ही नहीं। भगवान् कहते हैं—

---

* अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ (गीता ८। १४)

'हे पृथानन्दन! अनन्यचित्तवाला जो मनुष्य मेरा नित्य-निरन्तर स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ।'

'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'

(गीता १५।१५)

'मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हूँ।'

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९।४)

'मुझ निराकार परमात्मासे यह जगत् (जलसे बर्फके सदृश) परिपूर्ण है।'

भगवान् हृदयमें ही नहीं, अपितु दीखनेवाले समस्त संसारके कण-कणमें विद्यमान हैं। ऐसे सर्वत्र विद्यमान परमात्माको जब हम सच्चे हृदयसे देखना चाहेंगे, तभी वे दीखेंगे। यदि हम संसारको देखना चाहेंगे तो भगवान् बीचमें नहीं आयेंगे, संसार ही दीखेगा। हम संसारको देखना नहीं चाहते, उससे हमें कुछ भी नहीं लेना है, न उसमें राग करना है न द्वेष, हमें तो केवल भगवान्‌से प्रयोजन है—इस भावसे हम एक भगवान्‌से ही घनिष्ठता कर लें। भगवान् हमारी बात सुनें या न सुनें, मानें या न मानें, हमें अपना लें या ठुकरा दें—इसकी कोई परवाह न करते हुए हम भगवान्‌से अपना अटूट सम्बन्ध (जो कि नित्य है) जोड़ लें*। जैसे माता पार्वतीने कहा था—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १।८१।३)

पार्वतीके मनमें यह भाव था कि शिवजीमें ऐसी शक्ति

* वस्तुतः यद्यपि भगवान्‌के साथ हमारा सदासे ही अटूट सम्बन्ध है, तथापि भगवान्‌से विमुख हो जानेके कारण हमें उस सम्बन्धका अनुभव नहीं होता।

ही नहीं है कि वे मुझे स्वीकार न करें। इसी प्रकार हम सबका सम्बन्ध भगवान्के साथ है। हम भगवान्से विमुख भले ही हो जायँ पर भगवान् हमसे विमुख कभी हुए नहीं, हो सकते नहीं। हमारा त्याग करनेकी उनमें शक्ति नहीं है।

बच्चा खेलना छोड़ दे और रोने लग जाय तो माँको अपना सब काम छोड़कर उसके पास आना पड़ता है और उसे गोदमें बैठाकर दुलारना पड़ता है; परन्तु यदि बच्चा खेलमें लगा रहे तो माँ निश्चिन्त रहती है। इसी प्रकार यदि हम भगवान्के लिये व्याकुल न होकर सांसारिक वस्तुओंमें ही प्रसन्न रहते हैं तो भगवान् निश्चिन्त रहते हैं और हमसे मिलने नहीं आते। यदि बच्चा लगातार रोने लग जाय और माँके बिना किसी भी वस्तु (खिलौने आदि)-से प्रसन्न न हो तो घरके सभी लोग बच्चेके पक्षमें हो जाते हैं और उसकी माँको कहते हैं—'बच्चा रो रहा है और तुम काममें लगी हो! आग लगे तुम्हारे कामको! शीघ्र बच्चेको गोदमें ले लो।' उस समय माँ कितना ही आवश्यक कार्य क्यों न कर रही हो, बच्चेके रोनेके आगे उस कार्यका कोई मूल्य नहीं रहता। इसी प्रकार हम एकमात्र भगवान्के लिये रोने लग जायँ तो भगवद्धामके सब संतजन हमारे पक्षमें हो जायँ! वे सभी कहने लग जायँ—'महाराज! बच्चा रो रहा है; आप मिलनेमें देर क्यों कर रहे हैं?' फिर भगवान्के आनेमें कोई देर नहीं लगती। हाँ, जब बच्चा खिलौनोंसे खेल भी रहा हो और ऊपरसे ऊँ...... ऊँ...... भी कर रहा हो, तब उसे माँ गोदमें नहीं लेती। इसी प्रकार हम सांसारिक खिलौनोंसे भी खेलते हों और रोनेका ढोंग भी करते हों, तब भगवान् नहीं आते। वे हमारे आन्तरिक भावको देखते हैं, क्रियाको नहीं। मान-आदर, सुख-

आराम, धन-सम्पत्ति, सिद्धियाँ आदि सब सांसारिक खिलौने हैं। माँकी गोद, उसका प्यार, खिलौने आदि सब कुछ बच्चेके लिये ही होते हैं। ऐसे ही भगवान्‌की गोद, उनका प्यार तथा उनके पास जो भी सामग्री है, सब भक्तके लिये ही होती है। भगवान्‌के लिये भक्तसे बढ़कर कुछ भी नहीं है। यदि हम किसी भी वस्तुमें प्रसन्न न होकर भगवान्‌को पुकारने लगें तो वे तत्काल आ जायँ। इसमें भविष्यकी क्या बात है? माँ बच्चेकी योग्यताको देखकर उसके पास नहीं आती। वह यह नहीं देखती कि बच्चा बहुत सुन्दर है, विद्वान् है या धनवान् है। बच्चेमें माँको बुलानेकी यही एक योग्यता है कि वह केवल माँको चाहता है और माँके सिवा दूसरी किसी भी वस्तुसे प्रसन्न नहीं होता।

भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध स्वतन्त्रतासे, स्वाभाविक है। सांसारिक पदार्थोंके साथ हमारा सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदि सब पदार्थ निरन्तर बहे जा रहे हैं। उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवान् ही हमारे हैं। बच्चेमें कोई योग्यता, विद्वत्ता, शूरवीरता आदि नहीं होती, केवल उसमें 'माँ मेरी है'—ऐसा माँमें मेरापन होता है। इस मेरापनमें बड़ी भारी शक्ति है, जो भगवान्‌को भी खींच सकती है। इसीके कारण प्रह्लादने पत्थरसे भी भगवान्‌को निकाल लिया—

प्रेम बदौं प्रहलादहिको, जिन पाहनतें परमेस्वरु काढ़े॥

(कवितावली १२७)

संसारका हमसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। शरीर, कुटुम्ब, धन-सम्पत्ति आदि सब पदार्थ पहले नहीं थे और बादमें भी नहीं रहेंगे। दृश्यमात्र निरन्तर अदर्शनको प्राप्त होता चला जा रहा है।

कोई पदार्थ ६० वर्षतक रहनेवाला हो तो एक वर्ष बीत जानेपर वह ५९ वर्षका ही रहेगा; क्योंकि वह निरन्तर नाशकी ओर जा रहा है। हम नहीं रहनेवाले सांसारिक पदार्थोंको अपना मानते हैं और सदा रहनेवाले परमात्माको अपना नहीं मानते, यह बड़ी भारी भूल है। भगवान् वर्तमानमें हैं और हमारे हैं—इस बातपर हम दृढ़तापूर्वक डट जायँ तो भगवान् वर्तमानमें ही मिल जायँगे। केवल उत्कट अभिलाषा* होनेकी देर है, भगवान्के मिलनेमें देर नहीं। अपने भावके अनुसार चाहे आज भगवान्को प्राप्त कर लो, चाहे भविष्यमें—वर्षों या जन्मोंके बाद!

---

* भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् करनेका उपाय है—सम्पूर्ण सांसारिक इच्छाओंका त्याग और दूसरे हमसे जो न्याययुक्त इच्छा करें, उसे यथाशक्ति पूरी कर देना।

अपना दृढ विचार कर लें कि चाहे दुःख आये या सुख, अनुकूलता आये या प्रतिकूलता, हमें तो भगवान्‌को प्राप्त करना ही है। यदि हम पहले अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेमें लग जायँगे तो भगवत्प्राप्तिमें बहुत देर लगेगी। हमारे उद्योग करनेकी अपेक्षा भगवान्‌की अनन्त अपार कृपाशक्ति हमें बहुत शीघ्र शुद्ध कर देगी। बच्चा कीचड़से लिपटा भी हो, यदि माँकी गोदमें चला जाय तो माँ स्वयं ही उसे साफ कर देती है।

—इसी पुस्तकसे

॥ श्रीहरि: ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)
1675	सागरके मोती
1598	सत्संगके फूल
1633	एक संतकी वसीयत
400	कल्याण-पथ
401	मानसमें नाम-वन्दना
605	जित देखूँ तित तू
406	भगवत्प्राप्ति सहज है
535	सुन्दर समाजका निर्माण
1485	ज्ञानके दीप जले
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल
403	जीवनका कर्तव्य
436	कल्याणकारी प्रवचन
405	नित्ययोगकी प्राप्ति
1093	आदर्श कहानियाँ
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
408	भगवान्से अपनापन
861	सत्संग-मुक्ताहार
860	मुक्तिमें सबका अधिकार
409	वास्तविक सुख

कोड	पुस्तक
1308	प्रेरक कहानियाँ
1408	सब साधनोंका सार
411	साधन और साध्य
412	तात्त्विक प्रवचन
414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
410	जीवनोपयोगी प्रवचन
822	अमृत-बिन्दु
821	किसान और गाय
417	भगवन्नाम
416	जीवनका सत्य
418	साधकोंके प्रति
419	सत्संगकी विलक्षणता
545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
420	मातृशक्तिका घोर अपमान
421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
422	कर्मरहस्य
424	वासुदेवः सर्वम्
425	अच्छे बनो
426	सत्संगका प्रसाद
1733	संत-समागम
1019	सत्यकी खोज
1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	433	सहज साधना
1360	तू-ही-तू	444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
1434	एक नयी बात	435	आवश्यक शिक्षा
1440	परम पितासे प्रार्थना	1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
1441	संसारका असर कैसे छूटे?	515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......	438	दुर्गतिसे बचो
431	स्वाधीन कैसे बनें?	439	महापापसे बचो
702	यह विकास है या....	440	सच्चा गुरु कौन?
589	भगवान् और उनकी भक्ति	729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
434	शरणागति	745	भगवत्तत्त्व
770	अमरताकी ओर	632	सब जग ईश्वररूप है
432	एकै साधे सब सधै	447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा
427	गृहस्थमें कैसे रहें?		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
819	श्रीविष्णुसहस्त्रनाम—शांकरभाष्य	142	चेतावनी-पद-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
231	रामरक्षास्तोत्रम्	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1594	सहस्त्रनामस्तोत्रसंग्रह	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
054	भजन-संग्रह		